



भारतीय विद्या मंदिर
पीकनर
राष्ट्र और राज्य

राष्ट्र और राज्य

अनेक कुमार

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली



राष्ट्र और राज्य

बनेन्द्रकुमार

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक	दुर्गोदय प्रकाशन ८ नेतारी गुभाय माण जिल्हा ६
प्रथम प्रकाशन	१९६२
मूल्य	तीन रुपये
मुद्रक	प्रकाशक प्रतिष्ठान प्रेम ८००/१२ नेतारी माण जिल्हा ६

राष्ट्र

श्री

राज्य

युद्ध के उपकरणों का निर्माण धातु विज्ञान का सबसे महत्त्व का निर्माण है। क्या यह सब व्यर्थ है? नहीं, तो सायकता के लिए युद्ध जो होना ही चाहिए। युद्ध की समवता जुड़ो है आधार में राष्ट्र (राज्य) की सत्ता के साथ। विश्व में विज्ञान की अद्युनातम उपलब्धियाँ भी रहे और उसकी व्यवस्था के मूल में राष्ट्र राज्य-सत्ता भी क्यों की क्यों रहे तो युद्ध टल सकता है, बट नहीं सकता। अशुभचित के उदय के बाद बड़े युद्ध की संभावना जड़पूल से कटे सभी मानव के लिए भवितव्यता काय चलती है, अथवा प्रलय की भीषणता उसे उबरने न देगी।

उसी दृष्टि से राष्ट्र राज्य पर प्रस्तुत सैल में कुछ विचार का प्रयत्न किया गया है। तत्काल के सम्बन्ध में, प्रकाशकों को आगा है जिसका उपयोगी हो सकेगा। इसलिए असाग पुस्तिका के रूप में यह यहाँ प्रस्तुत है।

जैनेन्द्र कुमार

१ १ ६५

शक

राज्य के बारे में आज सोचने की आवश्यकता है कि जीवन में उसकी जगह क्या हो ? मानना होगा कि सम्यता के विपास के साथ राज्य बड़े होने गए हैं। पहले कोई विजेता पौज सडी करके बड़ जाता था और काफी बडा इलाका अपने बाबू में कर लेता था। लेकिन यह राज्य और साम्राज्य बहुत सवाल पदा नहीं करता था। कारण नाफ था कि वह तावत की हुरमत पर सडा है। उसने केन्द्र में एन आदमी हाना था जिसका आता चलता था और उसको मानवात्तर मान दिया जाता था। यहा से कुछ पीढ़िया तक हुमा तो पत्रिन उत्तराधिकार भी चल जाता था। अत्र केन्द्र में व्यक्ति नहीं है और माना जाता है कि तलवार की नगी तावत भी नहीं है। अत्र गानन प्रगामन है और हुरमत ध्यवस्था है। अंग स्थिति तर आवर भाग्यप रूप में यह प्रश्न उठ गया

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार गड़ा हुआ गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पान ब बड़ी मशीनें हो और उनका शिला-बौशल हो वे बड़े परिमाण में मान बनाकर दूसरे अर्थ-या अविषमिक्त देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम से कम अर्थनैतिक प्रभाव के आधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एनर्जिन रूप में मुक्त सुविधा प्रदान करने से अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम में आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपना को जा साकार कर सकती थी वह भातक काम में बनाने के ही काम में आ रही है। सोचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फेर फार होना आवश्यक है कि जिसमें हमारा बड़ा हुआ ज्ञान विज्ञान हम स्वयं की ओर न ले जाय बल्कि मुक्त और अर्थस की उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारे मित-जुनार रहन का प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पातो गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गई। यह तो शुभ हो या। अमुक अर्थों की आज यदि भारतीय प्रभुत्व करता है तो हमले वह व्यापक ही बनता है। भारतीय राष्ट्र के म. 12 भाग) हम चालास करोड़ आदमी प्राप्त में आमीय और प्रभु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा तब अर्थ में अर्थ और निता व मान ला जाती है, जब वह भोगोविष और राजनैतिक रणायना से घिर जाती है, तो मानो

हुआ है कि विनास के क्रम के साथ राज्य को भय विस और बढ़ना है।

इस समय हम राष्ट्र राज्य तक आ गए हैं। किन्तु विनास की प्रगति के साथ देखा यह जा रहा है कि दुनिया छाटी बन रही है देश अलग अलग स्वायत्त नहीं रह सकते हैं। उनमें आवा-जाही बढ़ रही है और आपसी लेन देन द्रुत और सघन बन रहा है। राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न प्रमुख हो गया है। हर स्वदेश के लिए विदेश-नीति का प्रश्न सबसे प्रधान होता जा रहा है। इस आवश्यकता को देखते हुए पहले लीग आफ नेशंस बना था अब यूनाइटेड नेशंस है। लेकिन इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीकों और सघो के बावजूद राष्ट्र राज्या की प्रभुसत्ता अखण्ड बनी रही है और जम ये अन्तर्राष्ट्रीय समाए देशो के आपसी सम्बन्धो पर कुछ अधिक नियमन नहीं ला पाती हैं। देशों के पास आज के दिन अपने अपने अणु शस्त्र हैं और वे एक दूसरे के खिलाफ काम आ सकते हैं। विश्व विचार के हाथ में नियम नहीं है, उन अणु शस्त्रो के काम आने न आने के बारे में नियम राष्ट्रसत्ताओं के पास है। सक्षम में और मूल में व्यावहारिक सत्ता राष्ट्र राज्य में निहित है और युद्ध होगा कि न होगा यह उनकी मति-गति पर निर्भर करता है।

विनास की प्रगति के साथ अस्त्रास्त्र नये-नये विस्म के बन रहे हैं। मालूम होता है कि क्या छोटे क्या बड़े सभी देशों को उनकी जम्मत है। इस तरह उनके निर्माण का और

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार सड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तेज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे बड़ी मशीनें हों और उनका शिल्प-कौशल हो, वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अध-या अधविकसित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनसे कम से कम अर्थनैतिक प्रभाव के अधीन ना करने हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एस्थित रूप में सुख सुविधा प्रदान करने में अधिक आपसी होंड बढ़ाने के काम में आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को न्यालिम्नान में बदल सकती थी, मनुष्य में बड़े-बड़े सपना को जो साकार कर सकती थी वह घातक बमों के बनाने के ही काम में आ रही है। गाचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास में इस रिन्दु तरफ आकर भया फेर फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बड़ा हुमा ज्ञान विज्ञान हमें गतरे की ओर न ले जाय बल्कि सुख और भयस को उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारी मिन जुनकर रहन की प्रवृत्ति उत्तमतर विकास वाली गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तरफ आ गई। यह तो गुम हा था। अमृत भन्ने को आन यदि भारतीय अनुभव करता है तो हमें वह व्यापक ही बनता है। भारतीय राष्ट्र के महारे माना हम चालीस करोड़ आदमी आपस में आत्मिय और चतु रन जान हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में उद और निता र मान ली जाती है, जब वह भोगोन्निष और राजनीतिर रेखाया में धिर जाती है, तो माना

हुआ है कि विज्ञान के क्रम के साथ राज्य को अब किस ओर बढ़ना है।

इस समय हम राष्ट्र राज्य तक आ गए हैं। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ देखा यह जा रहा है कि दुनिया छोटी बन रही है, देश अलग अलग स्वायत्त नहीं रह सकते हैं। उनमें आवा-जाही बढ़ रही है और आपसी लेन देन द्रुत और मघन बन रहा है। राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न प्रमुख हो गया है। हर स्वदेश के लिए विदेश-नीति का प्रश्न अबसे प्रधान होता जा रहा है। इस आवश्यकता को देखते हुए पहले लीग आफ नेशंस बनी थी, अब यूनाइटेड नेशन्स है। लेकिन इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीकों और सघा के बावजूद राष्ट्र राज्यों की प्रभुसत्ता अखण्ड बनी रही है और जस ये अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ देशों के आपसी सम्बन्धों पर कुछ अधिक नियमन नहीं ला पाती हैं। देशों के पास आज के दिन अपने अपने अणु शस्त्र हैं और वे एक दूसरे के खिलाफ काम आ सकते हैं। विश्व विचार के हाथ में निणय नहीं है उन अणु शस्त्रों के काम आने न आने के बारे में निणय राष्ट्रसत्ताओं के पास है। सक्षम में और मूल में व्यावहारिक सत्ता राष्ट्र राज्य में निहित है और युद्ध होगा कि न होगा यह उनकी मति-गति पर निर्भर करता है।

विज्ञान की प्रगति के साथ अस्त्रास्त्र नये-नये विम्भ के बन रहे हैं। मालूम होता है कि क्या छोटे क्या बड़े, गभीर देशों को उनकी जम्बरत है। इस तरह उनके निमाण का और

वितरण का एक बहुत बड़ा व्यापार खड़ा हो गया है। उसी के साथ दूसरी तरह की भी मशीनें हैं। वे तंज और प्रचुर उत्पादन के काम में आती हैं। जिनके पास वे वही मशीनें हैं और उनका शिल्प-कौशल हो, वे बड़े परिमाण में माल बनाकर दूसरे अर्ध-या अविश्वमित देशों को निर्यात कर सकते हैं और उनको कम से कम अर्थनीतिक प्रभाव के अधीन ला सकते हैं। ऐसे विज्ञान मानव जाति को एकीकृत रूप में सुख-सुविधा प्रदान करने से अधिक आपसी होड़ बढ़ाने के काम में आ रहा है। और जो अणुशक्ति रेगिस्तान को नखलिस्तान में बदल सकती थी, मनुष्य के बड़े-बड़े सपनों को जो साकार कर सकती थी वह घातक काम के बनाने के ही काम में आ रही है। सोचना होगा कि मानव जाति की व्यवस्था में विकास के इस बिन्दु तक आकर क्या फर-फार होना आवश्यक है कि जिससे हमारा बड़ा हुआ ज्ञान विज्ञान हम स्वतंत्र की ओर न नै जाय बल्कि मुख्य और श्रेयस की उपलब्धि की ओर बढ़ाये।

हमारे मिल जुलकर रहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकास पाने गई और हमारी समाज-व्यवस्था राष्ट्र की व्यापकता तक आ गई। यह तो शुभ हो था। अमुक मानने की आज यदि भारतीय अनुभव करता है तो हमसे वह व्यापक ही बनता है। भारतीय राष्ट्र के महारे माना हम चालीस परोड आदमी आपस में घातकीय और बन्धु बन जाते हैं। किन्तु यह धारणा जब अपने में उद घोर निता व मान ली जाती है, जब वह भौगोलिक और राजनीतिक रणरामा में घिर जाती है तो मानो

स्वदेश की एकता के लिए विदेश की स्पर्धा अथवा शत्रुता का सहारा आवश्यक होने लगता है। स्वयं के बंधुघात का आपसी मित्रता मानो विदेश के प्रति शत्रुता को साधक करने तक टिकती है अन्यथा वह बंधुघात और मित्रता स्वलित हान लग जाती है। राष्ट्रीयता की जगह प्रान्तीयता और प्रादेशिकता उभरने लग जाती है। मिलाने जुटाने वाली शक्ति तब केवल नकारात्मक रह जाती है और बिखरने बिखराने वाली शक्ति ऊपर आ जाती है। तब देश भन्दरूनी प्रतिस्पर्धा से आक्रांत होने लगता है सरकार ढीली होती और अपने को सिर्फ कानून के ढंके के जोर से बचाने को मजबूर होती है। लोक विश्वास की पूजा उसके पास उतनी रह नहीं जाता है और जोरो-जब्र से उसे काम लेना होता है। नागरिक के विरोध में सैनिक शक्ति तुल्य आती है और तब लोकतंत्र की जगह मानो दण्डतंत्र बनने लग जाता है।

उस पद्धति से राज्य के पास रहने वाली सैन्य शक्ति केवल देश विदेश की सीमा की सुरक्षा के ही काम नहीं आती है बल्कि खुद घर में उसके लिए काम पदा होने लग जाता है। सैन्य सत्ता को ऐसी परिस्थिति में वेहद मजबूर करने की आवश्यकता होती है। अथवा तो पडासी देगा के मुकाबले सैन्य बल किसी का उनीस रह जाए इसी में संकट की सम्भावना देखी जाती है। फिर अगर आन्तरिक मामला में उभके उपयोग की आवश्यकता होने लग जाय तब तो सैन्य दुगुना हो जाता है। इस प्रकार देश का अथ रचना नागरिक से हटकर फौजी होने लग जाता है। एक सिविल लॉ हुआ

बारह

करता है दूसरा माशल लॉ। इसी तरह एक सिविल व्यवस्था होती है, दूसरी माशल व्यवस्था। माशल व्यवस्था में जन हित पीछे पड़ जाता है, समझा-जाने-वाला राष्ट्रहित उसको ढर कर ऊपर आ जाता है। मानो नागरिक के ऊपर सैनिक आ बैठता है और श्रमिक का धर्म केवल इसलिए रह जाता है कि वह शासक और सैनिक को बहाल रखे। अनुत्पादक और व्यवस्थापन कामों का बोझ उत्पादक वर्गों पर बहुत अधिक पड़न लग जाता है। करों से प्राप्त हुई राशि प्रभूत हो जाती है और इस बड़ी बढ़ी राशि के हाथ में सारा धन व्यापार आ जाता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति का अभिव्रम घुटन लग जाता है और नीति तब की बागडार शासन-सत्ता के हाथ में आ जाती है। इस व्यवस्था को चाहता ऊपर से अनतंत्र वह सबत है लेकिन जन उसमें साधन से अधिक नहीं रहता। और चाह सिद्धान्त पर राजा न हो वह जबड़ा हुआ राजतंत्र जमा हो जाता है। राजा जन्म से ही नहीं होता चुनाव में भी हा सबता है। बल्कि चुनाव से उमका रूप धारतत तक हो सकता है।

इस समय राज्य का एक रूप तो निश्चित और स्पष्ट है। साम्यवादी राज्य मवहारा के नाम पर खुला अधिनायक राज्य है। वहा कम एक दल है और वह परिवर्षित है। यद्यपि दगा जा रहा है कि व्यक्ति-मध्य के नाम पर एर के बाद एर आदमी उस शक्ति के शीप पर से गिर रहा है, लेकिन फिर भी नीचे से चिनी जान वाली रचना ऐसी म्नुपाकार है, कि शक्ति के शीप पर दो या रचना नहीं बन सकता, एक ही

का होना पड़ता है। साम्यवाद का यह प्रत्यक्ष रूप है, यद्यपि उसका एकशास्त्रीय परोक्ष रूप भी है। उस शास्त्रीय रूप में, जो सबका परोक्ष बन गया है कल्पना है कि राज्य रहेगा नहीं असंगत होकर ऋर जायगा। दूसरे शब्दों में उसकी आवश्यकता समाज में समा जाएगी और व्यवस्था बाहरी किसी तंत्र से नहीं चलेगी बल्कि समाज में अन्तर्भूत प्रकृत नियमों के आधार पर चलेगी और वही समीचीन और पर्याप्त होगी। स्पष्टतः वह सबका असंगत व्यवस्था होगी न वह किसी को चुनौती देगी न किसी को टक्कर में आयेगी। साम्यवादी शास्त्र का यह विधान चाहे व्यवहार में कितना भी झुठलाया जाता हो अन्त में राज्य विचार के लिए एक उपयोगी निर्देश देता है।

दूसरा प्रचलित रूप है लोकतंत्र। दा ही तो पक्ष है आज जिनमें दुनिया बटी मानी जाती है। अधिनायक तंत्र और लोकतंत्र। लोकतंत्र का कोई एक मूलभूत प्रामाणिक शास्त्र नहीं है। वह तो एक उगती हुई व्यवस्था है जिसके विविध प्रयोग हैं। चुनाव की पद्धति या तो अधिनायक व्यवस्थाओं में भी है किन्तु वहाँ राय अधिकांश नियानव प्रतिशत से कम नहीं आती। एक प्रतिशत भी सम्भावना के लिए छोड़ा जा रहा है, नहीं तो अन्तर दशमलव एक प्रतिशत का रहा करता है। चुनाव की विविध विधियों से लोकतंत्र के रूपों में भी थोड़ा बहुत भिन्न रहता है। किन्तु सब में चुने हुए अधिकार की अवधि हमेशा बरती है अवधि के बाद पहले व्यक्ति को रत्न या हटाने का अधिकार मतदाता के हाथ में आ रहा है।

घोष

यह है लोकतंत्र । इसमें मत स्वतंत्र है इसलिए माना जा सकता है कि मतदाता स्वतंत्र है । किन्तु वात ऐसी है नहीं । कुछ विवशताएँ हैं जो परिस्थिति में भर दी जाती हैं और मत स्वतंत्र रहते हुए भी विवश हो जाता है । जो सुविधा है लोकतंत्र में, और जो उसकी विशेषता मानी जाती है वह यह कि बहुमत से शासन पर आने वाले दल के मुकाबले एक विरोधी दल भी हुआ करता है । इस दूसरे विरोधी दल का अनिवाय माना जाता है जनतंत्र के लिए, और समझा जाता है कि उसकी उपस्थिति के कारण शासन-दल मर्यादा में रहेगा और उसके लिए अनिवाय होगा कि वह जनमत का राजी रखे । अन्यथा उस शासन का गिरना होगा और बहुमत अल्पमत में आ जायगा ।

सच यह है कि जन प्रथम व्यवस्था से भी अंत में आता यही है, यद्यपि अभी तक वह शास्त्रबद्ध नहीं हो सकी है, कि राज्य अन्त में जन-जन के पास पहुँच जाएगा और अलग सवाजम के रूप में उनकी आवश्यकता नहीं रह जायगी । जन-जीवन का यथावश्यक नियमन अन्तर्व्याप्त वृत्तियाँ के अनुसार सहज परम्परता में से होता जायगा । ऐसी राज्य को सत्य-संरक्षित रहने की आवश्यकता नहीं होगी ।

अधिकार लोचनता में लक्ष्य-रचना की जा धारणा आज अमल में आ रही है उसे समाजवादी माना जाता है । भारतीय वाँस में समाजवादी संरचना की घोषणा की है ।

यहाँ स्वीकार करना चाहिये कि शासन का कुछ अजब हाल

है। साम्यवादी देश मव मिलाकर अपने को समाजवादी कहते हैं। साम्यवाद के कट्टर विरोधी देश भी जाहिर करते हैं कि हम अपने यहां समाज वादी रचना चाहते हैं।

शब्दों के उपयोग की इस अवस्था में चर्चा को परिणाम तक ले जाना कुछ कठिन हो जाता है। इसीलिए राजनीतिक भाषा अविश्वसनीय समझी जाती है। उस भाषा में इसीलिए आए रोज नई नई तरकीब बनी दीखती हैं। साशलिज्म शब्द को देश या राष्ट्र से कोई सगति नहीं समझी जाती थी। नारा था—वक्स आफ द वल्ड यूनाइटेड। अर्थात् सचार्ई में वक्स ही एक हैं नेशनल्स एक नहीं हैं। दोनों इन धारणाओं में विसगति और विरोध तक माना जाता था। लेकिन नेशनल सोशलिज्म जमी चीज भी बन आई इसी तरह सोशल नेगलिस्ट भी मिल जायेंगे। साशलिज्म में समाज की प्रधानता है डिमोक्रेसी में जन-स्वतंत्र्य की। दोनों कल्पनाओं की दिशा अलग है। लेकिन भारतीय कांग्रेस का सकल्प डिमोक्रेटक सोशलिज्म है दूसरी जगह आपका सोशल डिमोक्रेट मिल जाते हैं। राजनीतिक शब्दावली इस तरह बड़ी सचकदार हुआ करती है। आज जो दो शब्द विग्रह में ठने हैं, कल वही सधि में सवे नहीं बल्कि समास में सधुक्न दीखते हैं। उस शब्दावली के सहार वात की तरह तक पहुँचना इसलिये आसान नहीं हाता। राजनता परिस्थिति के साथ रहता है इसलिए यथाथ में यह शब्दों का जाड तोड कर लिया करता है। कठिनाई उन सामान्य जना का होती है जो शब्दा को खेल की चीज नहीं मानते, बल्कि उनके साथ भावनाओं को जोडन लग जाते हैं। शब्दा पर पक्ष खडे

हुए हैं और दोनों और स यहाँ तक कि कभी लागू का कृत्रिम कर दिया गया है। पर अन्त में देखा गया है कि उन दोनों शब्दों में आपस में अनायास सन्धि कर ली है। इसलिये राजनीति नहीं टिकती साहित्य टिक जाता है। कारण, साहित्य पहले में ही चेता देता है कि शब्द में से सच न लेना केवल सूचना लेना। जबकि राजनीति शब्दों को नारा के तौर पर ऊँचा उठाकर उनके प्रति आवेश उभारती और बलिदान मागा करती है। स्वयं राजनेता शब्द में उधा नहीं जाता केवल अशुभ शब्दों के द्वारा जनता को हाकन का वह अपना हक मानता है।

तो साम्यवादी और समाजवादी नतावादी और जनवादी राज्य हैं और उनमें थोड़ा बहुत अन्तर भी है। प्रमीडल है वहीं फस्ट सक्लेटरी, कहा प्राइम मिनिस्टर और वहीं वहीं राजा भी अभी तक बतमान हैं। हम उन राजकियानों के अन्तर में अभी नहीं जाना है। पर जो चीज सच बही है वह है उड़नी हुई सेना, अस्त्र अस्त्र, बढ़ता हुआ सुरक्षा पत्र बढ़ाया जाना हुआ नियाम, औद्योगिक उत्पादन कटित अर्थनीति मुद्रास्फीति और मुद्रा निभरता। जन की विद्यता और तब पर विधायन अधिनायकता। अर्थान राज्य के रूप में थोड़ी बहुत विविधता के अन्तर्गत के गाय हम कटितता का अर्थ बढ़ने जा रहे हैं। मत केवल यह वि हमारा इनाई का रूप राष्ट्र राज्य रहे उसका स्वल्प पत्रा और मजदूर रहे, उस पर प्राय न प्राय और उमका तनिर भी वहीं विसर्जन न करना पड़े। अन्तर्गठितता हमका पमद है, बगलें कि हमारी राष्ट्र-गता अक्षय और अशुण्य रहे बलि उमकी प्रभुता का सिक्का

दो

युद्ध से सबको डर है। वह छिड़ा तो पल भर में आणविक रूप लिए बिना न रहेगा और फिर कोई जीता न बचेगा। इस युद्ध को न होने देने के लिए तयारिया युद्ध की ही की जा रही है। तब है कि सामने अस्त्र-शस्त्र रहगा और हम उस तयारी शत्रु से कम रह जायग तो उसमें जीत का साम होगा और हमल की सभावना ही बढेगी। एक करता है तो उतनी दूसरे को भी करनी होती है। वह कम जहां खने वाला है पता नहीं। यदि अणु अस्त्र की ही रोक एक रोक है और आतक का बढ़ात जान एक उसका परस्पर सतुलित रखने का ही एक उपाय है तो यह अवस्था कायमी गीत-युद्ध की बन जाती है। अर्थात् आवश्यक होता है कि प्रत्येक क्षण हम रहें, अन्दर से जो ज्वाला भभक घषक रहें और वह बाहर कम फट पडती है

लेकिन क्या विवशता है कि राजनेता उन दिशा की तयारी को रोक नहीं सकते हैं और नई दिशा खाल नहीं सकते हैं ? भय से प्राण की उन्हें वहद आवश्यकता है बहुत बुद्ध रचनात्मक काम उनके सामने है। शांति की वे सौंस चाहते हैं कि उन कामों की तर्फ योग दिया जा सके। सबके मन में अपने ही कल्पित उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं, युद्ध का आतंक टलने और उन योजनाओं को हाथ में लिया जाय। लेकिन पूरी इच्छा रखने भी यदि यह नहीं हो पाता है तो कहीं न कहीं हमारे विचार-व्यवहार में गहरी विवशता घर बस चुकी है। नहीं तो क्यों है कि जो नहीं चाहते उधर चलना पड़ता है, और जो चाहते हैं उधर एक क्षण भी नहीं रखा जा सकता है।

विश्व-व्यवस्था के विचार और व्यवहार की इनाई आज राष्ट्र-राज्य है। पर्याप्त राज्य-केंद्रित और राज्य-परिचालित राष्ट्रीय समाज। इससे अतिरिक्त और किसी तरह के व्यवस्थित समाज की कल्पना हमारे पास नहीं है। कान्तिद्वारा तत्काल अथवा पल्पन गीत कवि को छोड़ दें तो राज्य नियंत्रण का अभाव माना हमारे प्राणों के प्राण व्यवस्थाहीन अराजकता का चित्र उपस्थित हो जाता है कि जहाँ ममादा रहेगी नहीं और पशुता गुनी खेलने लग जयगी। या माधम न कहा और दूसरे मनापिया न भी बड़ा लेकिन उस प्राण श्रेणी मुक्त समाज की कल्पना का आधार में उतारन की दिशा में जो भी प्राण बढ़ा वह मा तो अति-लग्न चित्र रह गया नहीं तो उस मत्ता नहीं गया समाप्त कर दिया गया।

शुरू से समाज में दो तरह के लोग होते आए हैं। तन और है। जो तन की मेहनत से वस्तु के तल पर काम करते हैं ऐसे तो बहुसंख्यक जन हैं। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो तन मन इन दो से जीवन चलता है। बाहर वस्तु है अदर बुद्धि का कष्ट नहीं उठाते वे बुद्धि बल से रहते हैं। पहले श्रमिक, दूसरे बौद्धिक। श्रमिक तो श्रम करता है बौद्धिक उसे बतता है। श्रम से उत्पादन तो होगा लेकिन उत्पन्न द्रव्य के वितरण और सामाजिक भोगाभोग के लिए व्यवस्था आवश्यक होती है। तो बौद्धिक उस श्रम और द्रव्य के विनियोग से व्यवस्था लाने का काम अपनाता है। श्रमिक पर और वस्तु विनियोग पर ऐसे वह अपना नियंत्रण ही लभाता है। इस प्रक्रिया में श्रमिक उत्पन्न करता है लेकिन उत्पन्न द्रव्य बिचकर जमा हो जाता है बौद्धिक के पास। इसमें मुद्रा सहायक होती है। मुद्रा किसी भी भोगाभोग में काम नहीं आती है पर अनायास घन वही बन जाती है। लोग जो जमा करने के बजाय मुद्रा जमा करना अधिक उपयोगी और सुरक्षित मानते हैं। मुद्रा का शास्त्र और गिनत्य उमका मात्र और तत्र, बौद्धिक के पास रहता है। परिणाम यह कि मेहनती के पास अपनी मेहनत का फल नहीं बचता और बातून के पास वही अनायास प्रचुर मात्रा में इकट्ठा हो जाता है। यह चलन इतना घाम हो गया है, उससे हम इन आदी हो गए हैं कि विनियोग उसकी चिन्ता की कल्पना में नहीं पड़ने दें उमका आदि-मत्य मानकर स्वीकृत भाव में चलते चले जाते हैं। इन बौद्धिकों में ही मार्क्स हुआ और दूसरे लाग हुए, पर इन्होंने जो बुद्धि का अपने साथ से स्वतंत्र रखा तो एमे बुद्धि बानिक बुद्धि

ध्यावहारिका की जमात के लिए बड़े खतरनाक बन जाते हैं। कारण, ये मन्त्रालय व्यवस्थापक, नेता-वक्ता बनने के वजाय बुद्धि का सत्य की जिनामा में लगाने लग जाते हैं। अर्थात् वे समाज की मान्य श्रेणी से नहीं जुड़ते और मानो स्वेच्छा से अग्रगण्य बन जाने में उन्हें कोई विपदा नहीं मालूम होती है। यह लोग इस तन और मन के भेद को गहरा करने के नहीं, बल्कि उसको भरने के काम आने लगते हैं। नतीजा होता है कि समाज में हलचल होती है। सुविधा प्राप्त और सुविधा-हीन भाग्यवान और अभाग्य—इन दो श्रेणियों का अंतर मानो तब कृत्रिम और अपना-बनाया-हुआ मालूम होने लगता है। इस अनुभव के साथ मनो में उथल-पुथल हो आती है जिसके फल को प्रान्ति भी कह देते हैं।

माकम ने निश्चय पूजा की सस्या का अन्वेषण विश्लेषण किया। उसमें से पूजावाद के नाश का और साम्यवाद की व्यवस्था का स्वप्न जागा। लेकिन यह स्वप्न फिर बुद्धि-व्यवसायों के हाथ आया और साम्यवाद ने राज्यवाद का रूप ले लिया। उसमें दूसरी पूजा तो खतम हुई पर केन्द्रित पूजा गुरु हो गई। गिफत जब राज बालता है और छापना है तो सामान काम है कि पूजा सब राज की हो जाय, पूजापति को बीच में न रखत किया जा सके तो पतियों की जमात तो गई, पर पूजा और उसी ताकत रह गई राज्य में केन्द्रित होने के लिए अघात अधिनति के लिए। माकम में जुटे इन के कारण यह अधिनतित्व चना गवहारा वग के नाम पर न किन अधिनति वग के समाप्त होने का अवसर न आ सका। कुछ बौद्धिक

लोग जनमे जिन्होंने माक्स से मिली नई भाषा द्वारा 'करने' और कराने वाला का भेद अपने हित में मजबूत कर लिया ! अर्थात् उन्होंने अपने पास सबया कराने' का काम रखा और करने का काम अनायास उस वग के पास रह गया जिसे सबहारा कहा गया था । 'कराने' वालो का राज्य हुआ और वह राज्य 'करने' वालो से तरह-तरह के काम कराने लगा । वगानिका से विज्ञान का काम विद्वानो से विद्याया का काम, उद्यमिया और श्रमिको से उन-उनका काम ।

जान पडता है कि जो खाई पू जी और श्रम के बीच समझी गई, जिस खाई को तात्विक भूमिका देकर गहरी और असली बताया गया और जिसम से श्रम शक्ति शासन से मुक्त नही बल्कि उसमे वेहद युक्त समाज पदा हुआ, वह खाई बाहरी थी । उसको थामने वाला द्रव और भी गहरा और भीतरी था और वह था बुद्धि और श्रम का द्रव । बुद्धि अपनी जगह रहकर सोच सकती है कि वह तन को चलाने के लिए है उसी मे वह अपना गव मान सरती है । इस तरह बुद्धि यदि अपने को अलग और ऊपर मानने का अवसर पा जाये तो काम करने के लिए केवल गरीर रह जाता और दोनों म द्वित्व पड जाता है । मानव-जाति के गरीर व साथ लगभग यही हुआ है । सिर ने अपने का घड के ऊपर माना है और सिर राजा बनकर रह गया है और घड प्रजा दानन के लिए रोप रह गया है ।

महमा इस प्रक्रिया म हम दोष नही दिगाई देता मानो वह प्रकृत है । सिर मानव गरीर म ऊपर रहता है इसम

प्रापत्ति की कोई बात भी नहीं है। लेकिन जीवन रक्त यदि किसी पद्धति से सिरफ़ी और अधिक पहुँचे और शेष शरीर के लिए उसका संचरण मद हो जाय तो वह अस्वास्थ्य का कारण होता है। रक्त का दबाव बढ़ जाता है और मस्तिष्क प्रमत्त होने लगता है।

माक्स ने एक शब्द दिया था, 'डि क्लास्ड इन्टेलेक्चुअल'। पर इन्टेलेक्चुअल होते ही मानो उसका एक सम-सामान्य कालम और दिन भलग हो जाता है। बहुत मुश्किल है बौद्धिक के लिए कि वह अपने हित को धर्म से जोड़े। बुद्धि मात्र के योग से उसे अच्छी कमाई और बहतर रहन-सहन मिल सकता है तो इस सुविधा को इन्कार करना उसके लिए बहुत कठिन होता है। वह मान सकता है कि यह उसकी उपयोगिता के एयज में आ रहा है और यथाधिकृत है अथवा अथवा के हित में यथोचित दाय के रूप में यह सुख-सुविधा हठात उसे दी जा रही है-इन्कार उसका अहकृत और अनुचित ही हो सकता है। वह धर्मिक का भला चाहता है उस भला करने में लगा भी रहना चाहता है। पर धर्मिक की दशा यदि धीरे-धीरे सुधरे और यथावश्यक भव सुख-सुविधाएँ उस तब पहुँचाने में कुछ समय लगे तो कोई कारण नहीं है कि वह प्रयत्न का ढीला करे और अपने को बचित और अक्षम बनाये। यदि आज का दिन उसे अक्षय धर्मिक से कुछ अधिक और विविष्ट वेतन आदि का सुभीता स्वीकार करना पड़ रहा है तो अवल इमीलिए कि यह सुविधा पान विपान का और मनीनी उत्पादन का जार से जल्दी से जल्दी इतनी प्रचुर कर दी जाय कि सुधरने

प्राप्त हो सके। इस प्रयत्न में यदि उसे भरपूर जोर से लगे रहना है तो इन छोटी मोटी बातों को वह कसे ध्यान में ले सकता है कि श्रमिक से उसका रहन-सहन थोड़ा-बहुत ऊँचा और बढ़िया है। बौद्धिक को वह भेद चुभता नहीं है। उसको लगता है कि बुद्धि को वह सावजनिक हित में जो लगाये रखना चाहता है, सो क्या उसी कारण उसे इन विशिष्ट सुविधाओं का अधिकार नहीं मिल जाना चाहिये? अधिक लोग श्रम नहीं करेंगे, उनमें झगड़े-बखेड़े होंगे व्यवस्था टूट जाएगी यदि वह अपने बुद्धि-दान से इसमें योग नहीं देगा !

ऐसे श्रेणी बनती है, विभेद बनता है और व्यवस्था सुगम होती है। सब समान होने चाहिए, इसका मतलब इतना ही तो है कि सबको समान भवसर होना चाहिए। ऊपर से समान सब हो नहीं सकते हैं। इसलिये व्यावहारिक बनना है और पद-दायित्व के अनुसार भ्रगर स्तरों का भ्रतर है तो इस पर ज्यादा भ्रटकने की आवश्यकता नहीं है।

भ्रत राज्य का नियंत्रक रूप मजबूत होता और फलता जाता है- तो कहीं इसीलिए तो नहीं कि वह नियंत्रण बौद्धिकों का स्थापित स्वायं बन चुका है? वे और कुछ कर नहीं सकते, नियंत्रण ही कर सकते हैं ! उनका भ्रस्तित्व-दायित्व जैसे सायक होता है सो तभी कि जब नियंत्रण में भ्राने को लोग हो। भ्रसमानता यदि रहती ही है श्रेणी और बग रहते हैं, तो नियंत्रण का भ्रौचित्य और उसकी भ्रनिधायता भ्रपने भ्राप बन भ्राती है। नियंत्रक के लिए नियंत्रण की आवश्यकता

हर कहीं और हर हमेशा रहती है। रोज की बात है कि कितना जुन्म होता है, अत्याचार होते हैं, हत्याएँ होती हैं, जुम और पाप होते हैं। आखिर इन्हें बन्द होना चाहिए कि नहीं? कैसे बन्द होंगे?—अगर ऊपर से नियंत्रण न होगा? इसलिए नियंत्रण को ऊपर होना पड़ता और सिर्फ वियंत्रण का काम करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य पूरे समय का काम हो जाता है, और वह काम इतना—इतना बड़ा होता जाता है कि लाखों लाखों लिये वही एक पूरा और हरसमयका काम हो रहता है। यह आदमी उपजा नहीं सकता, दूसरा कुछ बना जुटा नहीं सकता, एक नियंत्रण का ही घधा कर सकता है। आज्ञा दे सकता है, आदेश निर्देश-सदेश दे सकता है और खरबसूली पर सकता है। उस जमा हुए तरह-तरह के करो से यह लाखों लाख का वग राजकीय नियंत्रण का काम किया करता है। करते-करते यह उसका स्थापित स्वार्थ हो जाता है। यह स्थिति आने पर उसमें फिर निरंतर अभिवृद्धि और सबृद्धि की आवश्यकता होती रहती है।

राज्य का आज रूप कुछ ऐसा ही है। उसके लिए फलना और बढ़ना जरूरी है। सत्ता का स्वरूप मिलते ही उसे अपना बचस्व बढ़ाना पड़ता है। इस काम के लिए धीरे धीरे जीवन के सभी सविभाग उसे अपनी सरदा में लेने होते हैं। यह स्थापित स्वायत्त रूप से दूसरों में स्पर्धा जगाता और उनसे टक्कर में आता है। तब उसको अपनी फौज बढ़ानी पड़ती है। अपने आधीन देश प्रदेश में भर उगाही के लिए सम्पन्नता बढ़ानी पड़ती है, जो अंत में राजकीय सम्पन्नता ही

होती है। अंदर के और बाहरी दबावा के बीच यदि एक बार प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य खड़ा हो जाता है तो अपनी प्रेरणा और परिस्थिति के तक से उसे अपना सवाजमा बढ़ाते ही जाना होता है।

इस विवशता से कोई भी राष्ट्र राज्य बचा हुआ नहीं है। तब उसका अधिनायक यादी हो कि लोकवादी हो। कुछ दिमागी लोग यदि हैं और बेवस हैं कि वे दिमाग से ही जियेंगे, और सबसे बढ़-बढ़ कर जियेंगे और इस तरह का जीना यदि उपादय और उन्नत समझा जाता है, तो कोई उपाय नहीं रह जाता सिवाय इसके कि चतुर्गई का तन्त्र चले और मेहनती का काम निरी मेहनत रह जाये। बुद्धितत्र दूसरे शब्दों में मुद्रातत्र हो जाता है। दिमागी श्रणी के पास अपने समथन में सबसे बड़ा तर्क यह रहता है कि वह स्थानीय बातों में नहीं घबरा विश्व की और मानवजाति की भाषा में रहता और सोचता है। इसलिए अनायास वह अपने को ऊंचा और नेता अनुभव कर आता है। इन्सान वह भी होता है, उसी तरह सुख दुःख अनुभव करता है, राग-द्वेष उसमें होते हैं आशा आकांक्षा होती है पुत्र क्लेश की आवश्यकता होती है। यानी वह अन्दर से भीतत आदमी से विशेष अलग नहीं होता। लेकिन श्रम से मुक्त रहने के कारण दिमाग उसका उठने लगता है। इस उठते दिमाग के सहारे वह तरह-तरह के मनोहारी शब्द रचता और लोगो में सपना और तपणा जगा देता है। बस बुद्धि की इस चतुर्गई से वह विनिष्ट बन आता है और श्रमिका के मन में यह भ्रम भर देता है कि उसे विशिष्टता और उच्चता पर रक्षना उनका काम है।

धमकसा मे इससे सचमुच आसानी हो जाती है। मर्यादाएँ पदा होती है और स्पर्धा की जगह नम्रता उपजती है। विग्रह की जगह सहयोग की सभावना पदा होती है। लेकिन कुल मिलाकर बुद्धि चातुर्य का पलटा भारी होने लग जाता है और शरीर-श्रम चुसने-पिसने लग जाता है।

श्रम और बुद्धि का द्वैत एक बार पदा हुआ और उचित बना ता फिर वह कहीं तक बढ़ता जा सकता है, इसका ठिकाना नहीं है। आज सम्यता का जो सकट अनुभव में आ रहा है उसमें इस द्वैत का चरम देखा जा सकता है। मजूर और हजूर ये दो श्रणियाँ ही बन आई हैं। ध्यान रहे कि यह श्रम और पूजा का बटवारा नहीं है, क्योंकि पूजापति के ऊपर उसका भी हजूर बनकर एक शासक भविष्यति बना बठा हुआ होता है। वह पूजापति नहीं है, फिर भी बड़ा हजूर है। अर्थात् श्रम-पूजा के बटवार के आधार पर उस समस्या को आर्थिक मान लेना और इस तरह उसे आर्थिक विचार विवेचन में डाल देना पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ ऐसा होता है वहाँ निस्तार फिर प्रासंगिक नियंत्रण में जान पड़ने लगता है। अर्थात् बीच में हजूर को हटाओ-मिटायो, बड़े हजूर का बड़ाभा-बड़ाओ। सशेष में बड़े हजूरी का दरबार चलाओ। अर्थात् पारमाधिक को पटा कर आर्थिक को ही जब हम पकड़ते हैं, और अधिकाँग ऐसा ही हो रहा है, तो समाज में समता लाने के लिए हमको एक गहरी विषमता को हमें लाने के लिए बीच में पदा कर लेना आवश्यक लगने लग जाता है। एक वह श्रणी जो व्यवस्था कर दूसरी वह श्रणी जो काय करे और ताकीद में रहे।

अर्थात् एक वग प्रशासन का आवश्यक होने लग जाता है, जो शेष दूसरों को अनुशासन में रखे और अनुशासन से जरा निकलने पर उन्हें प्रशासन से दंडित करे।

आर्थिक बनते ही सवाल भावना का नहीं रहता हिसाब का ही जाता है। वह आपसोपन की भूमिका से उठकर विधि व्यवस्था अथवा कानून का बनने लग जाता है। उसका रूप होने लग जाता है कि समान बांटो, इसमें दो के बीच समान बटवारा करने के लिए तीसरे की आवश्यकता होती है। दो विलियों में बराबरी का झगडा हा तो बीच में बन्दर आ कर उन दोनों को समान आसानी से इस तरह बना दे सकता है कि सब खुद हड़प जाय। आर्थिक प्रश्न इस तरह सदा प्रशासन के लिए काम पदा करता है और भाईन कानून का बन जाता है। प्रशासन को इससे समयन मिलता है और उसके मजबूत होते जाने की परिस्थिति का निर्माण होता है।

राजनीति की इसीलिये सदा आर्थिक आर्थिक दृष्टि होती है। योजनाएँ उसकी आर्थिक होती हैं और जितना यह ऊपर से आर्थिक आयोजन-संयोजन विनियोजन हुआ करता है उतना ही अस्तित्व का प्रश्न अनिवायत सबके लिए प्रमुख और विकट बनता जाता है। एक को मानो दूसरे की स्पर्धा में जीना होता है। जीने की भाषा नतिक से आर्थिक, गुणात्मक से परिभाषात्मक होती जाती है। आदमी के लिए यह प्रश्न कि अन्दर से यह क्या है क्या हो, गौरव पड जाता है। प्रश्न मुख्य यह हो

जाता है कि वह बाहर से क्या है, उसके पास क्या कितना है। यह स्थिति भ्रान्ते पर ईमान से अधिक समग्रह का मूल्य बढ़ जाता है। गुण से ऊपर सख्या, क्वालिटी से ऊपर क्वांटिटी आ जाती है। भ्रादमी छुद होने की नहीं सोचता, गुट बनने की सोचने लग जाता है। जीवन का प्रवाह इस तरह मानवता से उलट कर वस्तुता की ओर बढ़ने लग जाता है और इस पर गर्व होने लगता है कि हम भ्रादश से मुक्त हैं, इतने यथायवादी हैं। यथाय मृत लगता है पसे मे, और सबसे बड़ी बुद्धिमानी पसे से वतमान को फला फूला बनाये रखने में हो जाती है। भविष्य सामख्याली का दूसरा नाम हो आता है। वतमान का अर्थात् पसे का भोग सबसे बड़ा सत्य बन आता है। विचार को अर्थनीतिक रखने में विश्वास करने वाली विचार धारा से राज चलाने से यह स्थिति अपने आप पैदा हो आती है।

उदाहरण के लिए भारत को ही लीजिए। यह स्वतंत्र हुआ और बड़ी योजनाओं का निर्माण हुआ। उसके शासक त्यागी पुरुष थे। गांधी के अनुगामी रहे थे जो महात्मा था। लेकिन योजनाओं के अनुसार जो घडल्ले-से तरक्की हुई तो मालूम हुआ कि साय-साय आपसी सम्बन्धों से युना हुआ समाज का पट भीना बन रहा है। उन सम्बन्धों में अष्टाधार बढ़ता जा रहा है। धन जितना बढ़ा है, धन का लोभ उससे अधिक बढ़ा है। और इन सब कारणों से सबसे अधिक फलना और बढ़ना पडा है राज्य के तंत्र को और सवाजमे को। यह परिणाम इष्ट और प्रत्याशित था, सो नहीं। सायद शासक नेताओं को अनिष्ट और अप्रत्याशित ही वह लगा। यद्यपि

यह एक दम तक सगत और अपरिहार्य था । पर उपाय न था । बाढ़ खुल चुकी थी और अपने ही कृत्यों और कर्म के परिणामों में बचना संभव कैसे हो सकता था ?

कारण परम आर्थिक से जीवन दृष्टि को निरी आर्थिक तक ले आया गया था ।

तीन

दो किसान हैं। उनके खेत साथ-साथ लगे हैं। रोज आपस में मिलते-बोलते हैं और बड़े मित्र हैं। लेकिन मान लीजिए, उनके खेतों की मट्ट पर से दो देशों की सीमा रेखा जाती है। नव दोनों पड़ोसी नहीं रहते, विदेशी बन जाते हैं। उनमें स्वाभाविक सहानुभूति का सम्बन्ध फिर नहीं रह सकता। जो सम्बन्ध होगा वह उन दोनों देशों की विदेश नीति से रगा होगा। इस तरह पासपास के पड़ोसी अकारण आपस में गर और दुश्मन बन बनने की मजबूर हो जाते हैं।

अभी जमनी में देखा कि पूर्वी को पश्चिमी बलिन से घसग करने वाली लकीर कहीं-कहीं एक भवान के बीच से भार-भार होकर गई है। कुछ कमरे एक राज्य में आये हैं, दूसरे दूसरे राज्य में। उस ही नगर के पूर्वी और पश्चिमी

भागों में आपस में कोई सम्भाव नहीं है। राजनीतिक इस दुर्भाव की यह दरार नक्शे की सकीर से वागज पर ऐसे खिंची कि उससे परिवारों और घरों के दिल मानों भारी स चीर दिये गए हैं। पश्चिमी और पूर्वी जमनी के बीच की हद से एक जगह एक गांव देखा कि पूरा पश्चिम में आ गया है, सिर्फ एक घर पूरब में बच गया है। अब यह एक अकेला घर सारे गांव के सहयोग के सम्भाव में जाने किस तरह जी रहा होगा।

राज्य की हृदयन्दी इस तरह मानव सहानुभूतियों के प्रकृत सूत्रों को काटे-तोड़े बिना नहीं होती। उन सीमा रेखाओं के धार-पार के सम्बन्ध सहज मानवीय नहीं रह जाते राष्ट्रीय के नाम पर विषम सदिग्ध बन जाते हैं। कहना चाहिए कि ऐसे राजनीति मानव-नीति से उल्टी पढ जाती है और मानव के विकास में बाधा डालती है।

होना चाहिए था यह कि राजनीति मानव के उत्कर्ष की घोटक होती और उसके विकास की अग्रिम रेखा समझी जाती। इतिहास का प्रारम्भ कुछ इसी क्रम से हुआ होगा। परिवार और समाज बना तो अपने आपसीपन के विकास की अनिवायता के कारण। मनुष्य के अन्दर एक दूसरे के लिए सहज संवेदना है। उसी में से पारिवारिकता और सामाजिकता का उदय हुआ। यह बढ़ती फलती हुई मानव की एकता निश्चय ही अनायास सिद्ध नहीं हुई, घटकों में आपस में मुठभेड़ भी हुई। ये घटक तरह-तरह से बने, भूगोल की, रक्त की, जातीयता की या कभी विचार की एकता से भी इन घटकों

का निर्माण हुआ। उनमें अपना अपना पृथक स्वत्व भाव जागा और सहानुभूति दुगम बनी। जब पहले-पहल ये घटक एक दूसरे के स्पर्श में आए, उनमें रगड़ और टक्कर हुई। लेकिन जीवन के अनिवार्य तक से पीछे उनमें लेन-देन बढ़ा और एक दूसरे की समझ पैदा हुई। राजनीति हमारी इसी पद्धति से विकास पाती गई और इकाइयां वे अतत आपसी समाई और समझीते से फलती-बढ़ती गई।

लेकिन इस क्रम में कोई दो सदियों से अवरोध आया दीखता है। विग्रहों के इतिहास में से सग्रह इन सदियों में पहले की भाँति फलित नहीं होता दीख रहा है। राष्ट्र राज्य कायमी सा बना जा रहा है और उस से पार जाने और ऊँचे उठने के निमित्त उपयुक्त सजायें और सस्यायें हमारे बीच पदा नहीं ही रही हैं। विज्ञान अवश्य तेजी से बढ़ रहा है। उसकी रफ्तार यहाँ तक है कि धरती का ग्रह अपने उपग्रह चाँद की ओर ही हाथ बढ़ाने वाला नहीं है, पर मंगल भादि साथी ग्रहों के साथ भी उसका परिचय और आवागमन शुरू हो सकता है। लेकिन इस उत्कृष्ट को वैज्ञानिक और बौद्धिक भर माना जाना चाहिए। कारण, व्यवस्था-व्यवहार की परिपाटियाँ समाज में तत्काल बन नहीं पाई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सस्याएँ हैं और कुछ सेवाएँ भी उस स्तर पर काम कर रही हैं, लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीयता के मूल में प्रमुखतात्मक राष्ट्र राज्य की स्वीकारता है और राष्ट्रीय स्वायत्तों के ताने-बाने के हिसाब से उस अन्तर्राष्ट्रीयता का परिचालन होता है। उस अन्तर्राष्ट्रीयता के पीछे राष्ट्रीय भावेश-विद्वेष मजे से काम करते और बढ़ते

स्वत्व का पहली बार भोग पाया है और अपने अस्तित्व का वे सिद्धका चाहते हैं। यो सारा राजनीतिक विश्व उद्गीव होकर खड़ी हुई राष्ट्र राज्यों की अस्तित्वाग्रो से आक्रांत हैं और प्राये दिन नई-नई समस्यायें उस स्तर पर उत्पन्न हो रही हैं।

इस स्थिति मे दो देश विशेष उल्लेखनीय बन जाते हैं। एक चीन दूसरा भारत। पहले दोनों हिमालय से अलग अलग थे। अब उसी हिमालय से वे पास नहीं आ गए बल्कि मिल गए हैं। चीन दुनिया का सबसे बड़ा देश है और दुनिया की एक तिहाई आवादी यहां बसी हुई है। साम्यवाद कुछ पहले तक एक अखण्ड सिद्धांत ही नहीं था, बल्कि अखण्ड साम्राज्य भी था। समझा जाता था कि राष्ट्रीयताएँ इस अखण्डता में लीन हो गई हैं और एक अचारिक राष्ट्रीयोत्तरता का उदय हुआ है। यह नई सम्भावना और नई घटना थी और कल्पना को पकड़ती थी। लेकिन इस अचारिक अखण्डता में दरारें दीख रही हैं। यद्यपि तरह-तरह की लिपी-पुती सफाई उस विषय में दी जाती है, लेकिन सच यह है कि भूस में राष्ट्रीय भाव की समाप्ति हुई ही न थी, अतः स्वाधिक हितों की भूमिना पर वह मानी गई अखण्डता आज खण्डित हुई पड़ी है। इस कम्युनिस्ट है, चीन कम्युनिस्ट है लेकिन दोनों के बीच एक लम्बी सीमा रेखा भी है। वहां पर ऐक्य नहीं है, अनैक्य है। उतना ही नहीं बल्कि निरंतर रगड भगड तक है। मास्को के पास अणु बम है तो इससे पैकिंग को आस्वासन नहीं प्राप्त हुआ। बल्कि उल्टे उसको अपने अणुबम का निर्माण आवश्यक मालूम हो आया। उधर मास्को के लिए चीन का यह

अणुशक्ति-सम्पन्न होना हफ का विषय नहीं हो सका। दोनों आज घम से मुक्त हैं या कहिए, दोनों माक्स-लेनिन वाले घर्म के अनुयायी हैं। लेकिन जान पड़ता है कि घम अथवा वाद की एकता किन्हीं दो राष्ट्रीय स्वार्थों को आपस में मिला नहीं पाती है। चीन जनसख्या से महादेश होकर भी महानों की गणना में नहीं आता था इसी से अब मानो वह कटिबद्ध है कि सख्या के तक से ही नहीं बल्कि बल और शस्त्र के तक से भी वह सबसे बड़ा-बड़ा होकर ही रहेगा।

उसी हिमालय के दक्षिण का देश भारत है। तिब्बत अब है नहीं जो पहले था और चीन के भारत की ओर के दबाव का, जब वह हो तो अपने में सोख लेता था। अब चीन की बढ़ती हुई शक्ति का दबाव भारत की सीमा पर सोघा पड़ रहा है। कुछ पहले खुली मुठभेड़ तक होकर चुकी है जिसमें साफ चीन की शक्ति प्रबलतर सिद्ध हुई। फिर भी चीन वापिस लौटा। इससे माना जा सकता है कि नीति का पक्ष भारत का ऊँचा रहा होगा।

भारत देश कुछेक वर्षों से ही स्वतंत्र है, पहले यहां अंग्रेजी राज था। स्वतंत्रता भारत देश ने अपने ही तरीके से जीती। यह तरीका इससे पहले इतिहास में कभी काम में नहीं लाया गया था। माना जाने लगा है कि राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह की भूमिका पर यह तरीका आगे भी कभी काम में आने लायक नहीं है। सुद भारत स्वतंत्र होकर अपने बीच जिस राष्ट्रवाद को पनपा रहा है, उससे प्रकट होता है कि यह भी उस तरीके

में से अपना विश्वास खो बठा है। परतन्त्रता में जो चला सो चला, शायद गांधी का महात्मापन उन परिस्थितियों में कारगर हो सकता था। अब जब कि परिस्थितियाँ आगे बढ़ आई हैं, देश को स्वराज्य पाना नहीं है बल्कि उसको बनाना है, तब सत तरीके नहीं चला जा सकता है। कुर्बानी करने और जेल जान की बात अब नहीं है। प्रशासन और शासन करने की बात है। इसलिये महात्मा को और बातों में याद रखना जरूरी हो सकता है। राजनीति के क्षेत्र में उनको कष्ट देने से बचना और बचाना चाहिए।

स्वतंत्र भारत के राज-कता गांधी जी के माग पर चलने वाले लोगो में से ही थे। गांधी को वे भूले नहीं थे, लेकिन अपने मामले आई नई परिस्थितियों के मुकाबले के लिए उन्हें भूलना आवश्यक अवश्य मानने लग गए थे। फिर भी एक मात्रा तक ही यह सम्भव था, सबया सम्भव न था। शायद उस आत्मा का प्रताप हो (यद्यपि एक अणुबम कोई चालीस पचास करोड़ रुपये के खर्च से बनता है और उतना खर्च यहाँ की अथ रचना को गढ़बढ़ में डाल सकता है) कि अणु विज्ञान और अणु शिल्प के पास रहते भी भारत ने अणुशस्त्र न बनाने का सकल्प किया है। अर्थात् कितने भी भारतीय नेता राजनीतिक हो पर नतिक मूल्य से वे उतने उदासीन नहीं हो पाते। तो यह नतिक भूमिका पर रहना चाहने वाला स्वतंत्र भारत देश विश्व की राजनीति में अपना एक स्थान रखता है। जन-बल और शस्त्र-बल से चीन यदि दुनिया का बहुत बड़ा देश है तो नीति-संस्कार की दृष्टि से और अपने आधुनिक

इतिहास की उज्ज्वलता के बल पर भारत भी कम प्रमुख नहीं है।

पता जा सकता है कि भारत के समान चीन भी स्वतंत्र भाव से अभी हाल में अपने पावो खड़ा हुआ है। पहले का चीन था, पर मानो अंतर्राष्ट्रीयता में नगण्य था। कम्युनिस्ट चीन एकदम गणनीय बन उठा है। यह नया दर्पो चीन जिस रीति से उदय में आया वह भारत से एकदम उल्टी थी। यहाँ अहिंसा का आग्रह था तो वहाँ हिंसक भावों और साधना का ही सहारा था।

महात्मा गांधी भारत के पास नहीं रह गए हैं। इससे न यह दर्शन न नीति ही सक्रिय रूप में यहाँ के राष्ट्रीय-व्यापारा में उपयुक्त दीसती है। किन्तु भाउसेतुग जोर और के साथ हैं। अतः उनकी अधिनायकता में चीन की सय-सत्ता का जो हमला भारत की उत्तरी सीमा पर हुआ तो उसका उत्तर भारतीय नेतृत्व गांधी की भाषा में नहीं दे सकता था। उत्तर दिया गया और उसकी भाषा आम तौर पर समझी जाने वाली फीजी भाषा ही थी।

दूसरे शब्दा में दुनिया का कोई देश नहीं है आज जहाँ मूलतः राज्यसत्ता का भरोसा ही न हो। यह राज्य-अथवा राष्ट्रसत्ता का ही मूल्य था जिसकी उभार देकर यह सम्यता चल कर यहाँ तक आ गई और अब आगे मार्ग बन्द पाती है!

माग आगे बढ़ इसलिए है कि वहाँ अणुबम आ बठा है। अभी तक तो निपटारा होता रहा है राष्ट्र राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा का युद्ध के उपाय से। अब वह उपाय निपटारा नहीं कर सकता करेगा तो पूरा खात्मा ही करेगा। इसलिये प्रश्न जो प्रस्तुत है वह यही नहीं है कि इस बीच की हालत का कमे पार किया जाए शस्त्रास्त्र की होड़ में कोई पक्ष निश्चित रूप से अधिक बलशाली बनकर समस्या को निपटा सकता है यह सम्भावना ही नहीं है। ऐसा नहीं होने वाला है कि अमरीका और रूस में कोई आणविक या आकाशीय विपत्ता में निश्चित रूप से काफी भागे निकल जाए और इसलिये दूसरा देश नीचे झुक जाए। ऐसी स्थिति आने से पूर्व आहत अभिमान में वह देश जो भी हो सके किये बिना न रहेगा और परिणामतः अणुयुद्ध का विस्फोट हुए बिना न रहेगा। इस आशंका को होड़ की पद्धति से किसी तरह टाला नहीं जा सकता है।

सकट को काटने के लिए जरूरी यह हो आया है कि जड़ में जाकर देखा जाय कि सकट बनने ही में कैसे आया। कोई उस सकट की अवस्था से प्रसन्न नहीं है। किसी में आज यह शंका भी नहीं है कि वह दूसरे पक्ष को पछाड़ ही देगा। पिछले दो विश्वयुद्धों में सचमुच ऐसे सपने जाग आये थे। व्यावहारिक राजनीति में आज उस मूर्खता के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। भवकिया तक ही ठीक है लेकिन क्यूंवा में जब अनी की स्थिति आ बना ता खुश्चेव जैसे विश्वस्त अधिनायक मता को कदम वापिस लेना पडा। चीन के माउत्सतुंग न उस समय कुछ भी क्या न कहा हो, लेकिन अगर स्वयं अणुबम निमाण

के बाद उन्हें ऐसी स्थिति में पड़ना पड़े ता उनके लिए भी, अगर वह होश में रहे ता दूसरी गति न हो सकेगी। मानव जाति को ही भस्म कर डालने का दायित्व कोई अपने सिर नहीं लेना चाहगा।

अथात आगे राह उद है और वर सामने चिने हुए अणु-साम्राज्य के पहाड़ में हैं। ता यह न हो सकेगा कि राह अणु विस्फोट के बीच में से निकालो जाग। साफ है कि राह उधर है ही नहीं वरना वहां पहले ही सबनाग बठा है। यह भी स्पष्ट है कि सक्कट इच्छापूर्वक नहा बना है और आगे बढ़ते जाने के सवल्प मात्र में स वह कटेगा भी नहीं। राह जा हम चलते आये हैं वही अनिवायत इस सक्कट के विन्दु तक हम ल आई है। अभी तप जानन या अवसर न था कि जिम उन्नति की राह पर गर्वातिरेक में हम भागे चने जा रहे हैं वह भाग जाकर बन्द मिल जाएगी। शायद अनुभवी कोई बताता और मिद्धात रूप से सभी अनुभवियों ने पहले बता ही रखा था तो हम मुन्नन वाले न थे। गति हमारी तेज थी और विजय सामने मुम्बराती दीगती थी। पर अणुबम की उपस्थिति न समय ला दिया है कि हम पहचानें कि वह आगा प्रवचना थी और स्वप्न मायामय था। गति हमारी गायद उमत्त थी और राह यह भूठी थी जो हमन पकड़ी थी। आवश्यक्ता उम मायायी दगन के कटने की है कि जिमर इस राह हमें नटराया। एन बार उस राह पड़े कि माया का मोह बढ़ना हा घला गया और बीच में रुकना सम्भव न हुआ। रुकना पड गया है इस अन्त पर अवर फिर भी अय तन का गतिवग मानो हमें

अणु-स्फोट को और ठेलता ही जा रहा है। नही चाहते हैं पर अतीत का तक मानो वतमान को विवश किये हुए है और यद्यपि अणुअस्त्र से निर्माण नही निकलता, निपट सहार ही निकलता है, तो भी जानते-बूझते, एक-दूसरे की शत्रुता के सहारे, अणुअस्त्रा का अपना ढेर हम बढ़ाते ही जा रहे हैं।

अजब दुविधा को स्थिति है। बढ़ने को विवश हैं उतने ही ठिठकने को भी विवश हैं। चीन के पास ष्यूवा के समय अणुबम नही था और वह बढ़ते जाने की ही भाषा में बोलता था पर रूस के पास उसकी कमी नहीं था इसलिए उसे सोचना और ठिठकना पड गया। अब भी चीन अणु-क्षेत्र में आत्महीनता की अनुभूति के कारण जीत के मद में भागे बढ़ते जाने की सोच सकता है। पर कमी जब उसके पास नही रह जाएगी तो अपनी भरपूरता में ही उसे देखना होगा कि भागे बढ़ने के लिए अब एक कदम की भी गुजाइश नही रह गई है। कारण भागे विनाश का महा अतल गत खुला हुआ है।

राष्ट्र राज्य अनेक हैं और अपनी प्रभुसत्ता में सब बराबर है। इसलिये वस्तु-सत्ता में भी वे हर बड़े से बड़े के बराबर होने की इच्छा रख सकते हैं। हीनता में से सब निरलता ही है। दायद इस प्रेरणा में सभी देश औद्योगिक उत्कृष्ट पर पहुँच जाना चाहते हैं। अर्थ विकसित या अविकसित बनकर कोई रहना नहीं चाहता। सभ्यता मशीनी है और मशीन के

जोर से हर देश आयात कम करके अपना निर्यात बढ़ा डालना चाहता है।

स्पष्ट है कि सारी दुनिया के सन्दर्भ में निर्यात आयात जितना ही हो सकता है। निर्यात को बढ़ाने की कोशिश अतः मण्डी बढ़ाने की कोशिश ही रह जाती है। सम्पन्नता की यह धारणा आवश्यक है कि आधी दुनिया को मण्डी के रूप में दखे और फिर ऐसी सम्पन्नता से जरूरी होता है कि विपन्नता जारी रहे। प्रचुरता के लिए कोई तब अपने को बढ़ाते जाने का नहीं रह जाएगा अगर साथ-साथ कहीं अभाव भी उत्पन्न नहीं होता जायेगा।

ऐसा मालूम होता है कि दुनिया इसी चक्कर में जित्त म आकर फँस गई है। कोई देश भी अगर ऐसा नहीं रह जाता है जो परतंत्र हो, या उपनिवेश या मण्डी बनकर रहना गवारा करे तो दुनिया की अर्थ-व्यवस्था एकदम गड़बड़ में पड़ जाने वाली है। और राष्ट्र-राज्य की गरिमा के स्वप्न ने लगभग वही भाव सचम भर दिया है। स्वतंत्र हुए बिना कोई भी अर्थ रहने वाला नहीं है, देश ही स्वतंत्र होकर नहीं बचने वाला है, बल्कि प्रदेश भी स्वतंत्रता की मांग में उठ सकते हैं। यह स्वतंत्रता अगर परस्पर की स्पर्धा में टकराने वाली हो तो अव्यवस्था की स्थिति आ जाएगी। पर राष्ट्रीय-स्वतंत्रता अर्थात् कि राष्ट्र-राज्य की इससे दूररी धारणा हमारे पास है नहीं। परिणाम यह है कि स्वतंत्रता के लिए पहले आदान-प्रदान होता है, और स्वतंत्रता के बाद उसकी रक्षा के लिए भी

उतना ही आदोलित रहना पड़ना है। मानो हर स्वतंत्र राष्ट्र का अपने पड़ोसी के लिए खतरा हो आना आवश्यक हो।

राष्ट्रों के आपसी सहायक-संधि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का भी निर्माण हुआ है। यूनाइटेड नेशन्स को बधानिक मान लें तो भी स्वेच्छा से कुछ आपसी संधि बने हैं। सबसे महत्व का इस सम्बन्ध में पक्षमुक्त देशों का अभी हाल में हुआ काहिरा अधिवेशन है। उन सभी के अनुभवा से जान पड़ता है कि केवल स्वतंत्रता से समस्या का हल नहीं होता बल्कि समस्या का केवल रूप बदलता है। बल्कि कहा जा सकता है कि उससे नये रूप की समस्या का आरम्भ हो जाता है।

उदाहरण के लिए सन ४७ से ठीक पहले और ठीक बाद में भारत को लिया जा सकता है। पहले का भारत एक स्वल्प में एकत्रित भारत था। बाद वही विक्त्या में विखरा सा हो आया। प्राणों की एकता और भाव की जा उत्पत्ता पहले थी बाद में वह खिसक गई। पहले मानो जीवन के पास एक लक्ष्य था और उसके लिए प्रयत्न पुष्पाथ जगा रहता था। बाद में वह लक्ष्य अस्त हुआ तो उसकी जगह दूसरा क्रोड उदय में नहीं आया और भीसत नेता और भीसत नागरिक के लिए तत्काल का भोग ही प्रधान हो गया। जो दल बलिदान के भाग पर होकर परस्पर सयुक्त और सुगठित था वही विभक्त और विघटित हान लगा। राष्ट्रीय था वह दलीय हो गया और ऐक्य में दरारें पड़ने लगीं। हार्दिक सहयोग बढ़ने लगा

और बधानिक संयोग ही उसकी जगह भरने का उपाय रह गया। संक्षेप में स्वतंत्रता समाधान के रूप में नहीं आई, उल्टे समस्या के रूप में उतरी मालूम हुई।

स्वराज्य दूर था तो हिंदू मुस्लिम यहाँ एक थे और मिलकर जेल जा रहे और खून दे रहे थे। स्वराज्य आता सा दिखाई दिया तो कांग्रेस के मुकाबले लीग बन आई। परिणाम कि स्वतंत्र होने के साथ भारत का विभाजन भी हुआ। विभाजन वह सक्कों साक्षो से बनते आते हुए मानव सम्बन्धों के नाजुक तन्तुओं पर फरसे के मार्निद पडा और इतिहास की वह लोमहृषक घटना हुई कि याद करत भी जी कापता है। यह सब प्रमाणित करता है कि दशा का स्वायत्त और स्वतंत्र होना अपने आप में कोई समाधान कारक स्थिति नहीं है। विद्व वे सदम में देखें तो समस्या में उस कारण बल्कि एक नया कोण धोर उभर आता है।

और वह समस्या जो दुनिया को आक्रांत किये हुए हैं मानव जाति में प्रभूत परिस्थित का सहार की तयारियों में लगे रहने को विवश किये हुए हैं, जिसके कारण मानव भय और चिंता और अभाव में रहने को विवश हो रहा है, वह है राष्ट्र राज्यों का नितांत प्रभुसत्तात्मक और प्रतिस्पर्धत्मक रूप।

८१८

एक विचार है सामाजिक न्याय । उस विचार से मनुष्य निरपेक्ष नहीं हो सकता । उसी की अनिवायता में सं हम अपने सम्बन्धों और सस्थानों का निर्माण करते हैं । प्रबल जब दुबल को दबाता-सताता है तो मन कहता है यह अन्याय है, न्याय होना चाहिए । न्याय की मांग मानव चेतना में गभित है और विकास मात्रो इस न्याय की चेतना का ही विकास है ।

व्यक्तियों के सम्बन्ध में हम स्पष्ट देख पाते हैं कि महान् वे नहीं हुए जो धनाढ्य थे, प्रत्युत जिनकी महानता इतिहास में से प्रमाणित और परिपुष्ट बनी वे हुए हैं जिन्होंने धन कमाने की तरफ रुख भी नहीं किया । धनपति अपने प्रभाव को बड़ा बड़ा मान सकता है, लेकिन उसके सम्बन्ध आसपास

भड़तालीस

सगळ और ईष्या के बन जाते हैं। इन विरोधात्मक सम्बन्धों की निषेधवृत्ति के कष्ट से वह बच नहीं सकता। उसकी धनिकता जो किसी दूसरे की निषेधता से जुड़ जाती है, सो उसके दबाव से उसकी मन स्थिति स्वस्थ और प्रफुल्लित नहीं रह पाती। उसे दुश्चिन्ता में रहना पड़ता है, उसकी चेतना स्वरक्षात्मक हो जाती है। उसके लिए फिर आत्मदान सम्भव नहीं रहता और हर 'पर' से अपने 'स्वत्व' को बचाए रखने के चक्कर में उसे चकराना पड़ता है।

व्यक्तिक क्षेत्र में इस अनुभव को स्वीकार किया ही गया है और तदनुकूल धर्म के शास्त्र एवं मिथ्यात बने हैं। नतिकता की धारणाएँ उत्पन्न हुई हैं। कृतायु भाव से हमने उन लोगों को मस्तक झुकाया है जिनका जीवन बलिदान का उदाहरण बन सका है। स्वायत्त से हम व्यक्तिगत मुक्त न हों, लेकिन परमायु को हमने मूल्य माना है। उस मान से हम अपने का और सबको नपा करते हैं। अर्थात् व्यक्तिगत क्षेत्र में हमारे मान-मूल्य नतिक ही होते हैं।

पर राष्ट्र पर आकर मानो मूल्य अन्यास बदल जाते हैं। राष्ट्र के रूप में अपने को सम्पन्न और समृद्ध बन ले जाना मानो हमारी सबसे सगत और उचित जान पड़ता है। मानो उस जगह यात्रा का प्रश्न उठने के लिए रहता ही नहीं। व्यक्ति स्वयं में ही नहीं है, दूसरों के साथ है, इसलिए नतिकता का मान समाज के अर्थ में, सहज आवश्यक जान पड़ता है। समाज अपनी ओर से राज्य की सृष्टि करता है कि जो नतिक

मानों की रक्षा के अथ राक-ग्राम के उपाय, जिसे कानून कहते हैं, बनाता और अपनाता है। पर उसी तरह राष्ट्र भी अनेक है और परस्परता के बिना उनमें आज किसी का काम नहीं चल सकता। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नतिक मूल्यों की उतनी सगति नहीं समझी जा रहा है। प्रत्येक स्वतंत्र और प्रभुसत्ताशाली है और जिन भी उपायों से सम्भव हो जल्दी से जल्दी बतशाली बन जाना चाहता है। बल का आशय पड़ोसी से प्रबल। इस अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी कल्पना इससे ऊँचे जा ही नहीं पाती है। सबके लिए जो स्वयं बलिदान का जीवन अपनाता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है लेकिन राष्ट्र की श्रेष्ठता और सफलता के लिए भी बलिदान की यह नीति हो सकती है यह बात किसी तरह हमारे मन में नहीं बैठती। मालूम होता है कि राष्ट्र के लिए तो स्वरक्षा और सुरक्षा का विचार प्रमुख है राष्ट्र का मुख्य पुरपाय मानो इसी में सम्पूर्ण हो जाता है। इसी तक की सीमा में अपने प्रभाव विस्तार और विजय विस्तार की बात सूझा करती है। राष्ट्र के रूप में दूसरा कोई आदेश ही माना सगति नहीं रह जाता। राज्य को विभूतिमय बनाना और राज्यों के लिए ठाट-बाट जुटाना जरूरी होता है अथवा देश अपने को महिमावित नहीं मान पाता। उसका ऐश्वर्य बढ़ा बढ़ा न हो तो मानो यह हीनता का प्रमाण हो जाता है। अर्थात् राज्य को अपनी अस्मिता का गव रखना ही चाहिये। प्रतिस्पर्धा में अपने देश को किसी से दोमम मानना उसके लिये शान्ति नहीं हो सकता है।

इस पद्धति से घाँसत नागरिक मनुष्य पर दा तरह के विचाव काम करने लगते हैं। वयक्तिक क्षेत्र में उसके लिए आदश धर्म नतिक रहता है पारस्परिक क्षेत्र में मानो वही अर्थ-लौकिक हो आता है। यदि राज्य का आदश खुली समृद्धि और सम्पन्नता का हो वभव-एश्वय मान और प्रभुता का हो, तो नागरिक के लिए भा मानो मानमूल्य वही हा जाना है। परिणाम कि राजकीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा और ईष्या विद्व प सामाय मूल्य वन आत हैं। सबको अपने लिए पदभोग चाहिये और सत्ता विभुता चाहिये। "स मूल्य-द्व त की स्थिति में नतिक मानो केवल मध्यम और अघम स्तर वाला के लिये ही रह जाता है उत्तम श्रेणी वह बनती है जा शक्ति का मूल्य मानती ह और नतिक में मूलत विश्राम नहीं रखती है। यह श्रेणी नतिक को केवल उपाय मानती है जिससे नीचे वालों का मयादित और शयत रखा जाय। उनसे काम लिया और करामा ज य और धन-सत्ता की सुविधा इधर अपनी ही आर रोक रखी जाय।

ज्ञान और विज्ञान ने एमी परिस्थिति आर मानसिकता का निर्माण कर दिया है कि मूल्या और श्रेणियों का यह अन्तर अधिक चल नहीं सकता। ज्ञान प्राप्त हो गया है लगभग हमम से प्रत्येक को कि धन का विषम विभाजन प्रकृत नहीं कृत्रिम है। और जब तक यह रहता है तब तक मानव सम्बन्धों में अघाय भी समाया रहता है। स्वस्थ समाज यदि होगा तो वह होगा जिसमें समाज-शरीर के अवयवों अथवा वर्गों-श्रेणियों में अघाय का यह तनाव नहीं होगा, उनम

मानों की रक्षा के अथ रोक-थाम के उपाय, जिसे कानून कहते हैं, बनाता और अपनाता है। पर उमी तरह राष्ट्र भी अनेक हैं और परस्परता के बिना उनमें आज किसी का काम नहीं चल सकता। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नतिक मूल्यों की उतनी सगति नहीं समझी जा रही है। प्रत्येक स्वतंत्र और प्रभुसत्ताशासक है और जिन भी उपायों से सम्भव हो जल्दी से जल्दी बलशाली बन जाना चाहता है। बल का आशय पछोसी से प्रबल। इस अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी कल्पना इससे ऊँच जा ही नहीं पाती है। सबके लिए जो स्वयं बलिदान का जीवन अपनाता है वह व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है, लेकिन राष्ट्र की श्रेष्ठता और सफलता के लिए भी बलिदान की यह नीति हो सकती है यह बात किसी तरह हमारे मन में नहीं बठती। मालूम होता है कि राष्ट्र के लिए तो स्वरक्षा और सुरक्षा का विचार प्रमुख है राष्ट्र का मुख्य पुस्त्याप माना इसी में सम्पूर्ण हा जाता है। इसी एक की सीध में अपन प्रभाव विस्तार और विजय विस्तार की बात सूझा करती है। राष्ट्र के रूप में दूसरा कोई आदर्श ही मानो सगत नहीं रह जाता। राज्य को विभूतिमय बनाना और राज्या के लिए ठाट-बाट जुटाना जरूरी होता है अथवा देश अपने को महिमावित नहीं मान पाता। उसका ऐश्वर्य बढ़ा-दढ़ा न हाता मानो यह हीनता का प्रमाण हो जाता है। अर्थात् राज्य को अपनी अस्मिता का गव रगना ही चाहिये। प्रतिस्पर्धा में अपने दप का किसी से दोयम मानना उसके लिए क्षम्य नहीं हो सकता है।

इस पद्धति से औसत नागरिक मनुष्य पर दा तर्ह के गिवाब काम करने लगत हैं। वयक्तिक क्षेत्र में उसके लिए आदर्श धर्म नतिक रहता है पारस्परिक क्षेत्र में मानो वही धर्म-तौकिर हो आता है। यदि राज्य का आदर्श खुली समृद्धि और सम्पन्नता का हो, बभव-एश्वर्य मान और प्रमुता का हो, तो नागरिक के लिए भा मानो मानमूल्य वहां हा जाता है। परिणाम कि राजकीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या विद्वेष सामान्य मूल्य बन आते हैं। सबको अपने लिए पदमोग चाहिये और सत्ता विमुता चाहिये। इस मूल्य-द्वैत की स्थिति में नतिक मानो केवल मध्यम और अधम स्तर वालो के लिये ही रह जाता है उत्तम श्रेणी वह बनती है जो शक्ति को मूल्य मानती है और नतिक में मूल्यत विश्वास नहीं रखती है। यह श्रेणी नतिक को केवल उपाय मानती है जिससे नीचे वालों को मयादित और सयत रखा जाय। उनसे काम लिया और कराया जय और धन-सत्ता की सुविधा इधर अपनी ही पार रोक रखी जाय।

ज्ञान और विज्ञान ने ऐसी परिस्थिति पार मानसिकता का निर्माण कर दिया है कि मूल्य और श्रेणिया का यह अन्तर अधिक बन नहीं सकता। ज्ञान प्राप्त हो गया है लगभग हमसे से प्रत्येक को कि धन का विषम विभाजन प्रष्टुन नहीं कृत्रिम है। और जब तक यह रहता है तब तक मानव सम्प्रदाय में अयाम भी सभाया रहता है। स्वयं समाज यदि होगा तो वह होगा जिसमें समाज-शरीर में अययवा अययवा वर्गों-श्रेणियों में अययव का यह तनाव नहीं होगा, उनमें

परस्पर समवाय और सौहाद होगा, और एक की सुविधा दूसरे की दुविधा नहीं बनेगी ।

इसी तरह विज्ञान ने उठकर बतल दिया है कि यहाँ ऊँचा और नीचा नहीं है, दूर और पास नहीं है प्रकृति की धार से कोई बाधा और कृपणता नहीं है । वस्तु के अभाव का प्रश्न ही नहीं है कारण, मण्डल में भी परम है । समय और स्थान का अन्तर अन्तर नहीं है और अगर कष्ट है तो विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उसके अमुक्त उपयोग और स्वामित्व के कारण है । विज्ञान की उपलब्धि अब सीमित नहीं रहने वाली है सुख हो जाने वाली है और ऐसी सुविधायें बनती जा रही हैं कि व्यक्ति मात्र उन उपलब्धियों से अवगत हो जाए और किसी भी हालत में वह परित्यक्त बनकर रहना सहन न करे ।

इस अवस्था में व्यवस्था का वर्तमान रूप विस्फोट से यदि सब कुछ इस बीच विध्वंस नहीं हो गया तो, अधिक काल रह नहीं सकता है । सारी धारणा में हेर फेर लाना होगा और जान पड़ता है कि मानव-एकता अधिक अब काव्यादश के सोव की कल्पना नहीं रह जाएगी, बल्कि व्यावहारिकता बन आएगी । राष्ट्रो की सत्ता मानवता से निरपेक्ष न होगी और मानव-मूर्त्यों को प्रभुसत्ता प्राप्त होगी । आज नहीं समझ में आता है कि विभुसत्ता अमुक्त कायकारी-यत्र (गवर्नमट) स अयत्र रह कैसे सकती है—सत्ता को स्थूल तत्र के रूप में देखने के हम इतने आदी हैं । लेकिन मानवात करण जसी शक्ति का

बोध आज भी होने लगा है। विश्व-लोकमत जमी चीज प्राधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव क्षेत्र में सगत होने लगी है। राजनीतिक सत्ता के स्तर पर भी अनुभव किया जाने लगा है कि 'हम मन काश्यन्स' जसा कोई तत्व है अपनी जगह वह अमोघ है, और उसका उपेक्षा में रखकर अधिक चला नहीं जा सकता है।

इस भावात्मक सत्य के अनुरूप कोई सत्वशील सत्यावतमान विश्व-व्यवस्था के बीच उदय में आए, इसमें समय लग सकता है। लेकिन ज्ञान विज्ञान के अद्यतन उत्कृष्ट के प्रकाश में मानवान्तकरण की उस भावात्मक सत्ता से इन्कार किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्रनेता और राज्य सत्ता को घोषित और प्रमाणित करना पड़ता है कि युद्ध में भी वह नृशंसता से बचता है और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओं का पालन करता है। राजनीतिक विवाद से वातावरण को अनिश्चित और अक्रान्त ही न कर दिया जाय तो सत्य और न्याय की वाणी में आज भी बल है। सत्य और न्याय की निष्ठा मानव-हृदय में इतनी गहराई पर बद्धमूल है कि वह शक्ति, यदि उदय में लाई जाय तो अमोघ हो सकती है। राष्ट्रीय स्वार्थों के विग्रह में राजनीतिवा ने मानव दृष्टि को ऐसा चररा रखा है कि वह शक्ति जाग नहीं पाती है। सत्य असत्य न्याय अन्याय को घपने में डाल दिया जाता है और यह मानवता जो राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह को छाया में छुड़ श्रम और प्रेम में रही है जो एक दूसरे के लिए जी रही और एक दूसरे को घाम रही है वीरिका के इस बुद्धि भेद के नीचे विस्मित और

परस्पर समवाय और सौहार्द होगा, और एक की सुविधा दूसरे की दुविधा नहीं बनेगी।

इसी तरह विज्ञान न उठकर धता दिया है कि यहाँ ऊँचा और नीचा नहीं है, दूर और पास नहीं है प्रकृति की ओर से कोई बाधा और कृपणता नहीं है। वस्तु के अभाव का प्रश्न ही नहीं है कारण, मण्डल भी परम है। समय और स्थान का अन्तर अन्तर नहीं है और अगर कष्ट है तो विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उसके अनुकूल उपयोग और स्वामित्व के कारण है। विज्ञान की उपलब्धि अब सीमित नहीं रहने वाली है, सुलभ हो जाने वाली है और ऐसी सुविधायें बनती जा रही हैं कि व्यक्ति मात्र उन उपलब्धियों से भ्रमगत हो जाए और किसी भी हालत में वह परित्यक्त बनकर रहना सहन न करे।

इस अवस्था में व्यवस्था का वर्तमान रूप विस्फोट से यदि सब कुछ इस बीच विध्वंस नहीं हो गया तो, अधिक बाल रह नहीं सकता है। सारी धारणा में हेर-फेर लाना होगा और जान पड़ता है कि मानव-एवता अधिक अब काव्यादेश के लोच की कल्पना नहीं रह जाएगी, बल्कि व्यावहारिकता बन आएगी। राष्ट्रों की सत्ता मानवता से निरपेक्ष न होगी और मानव-मूल्यों को प्रभुसत्ता प्राप्त होगी। आज नहीं समझ में आता है कि विभुसत्ता अनुकूल कार्याकारी-यंत्र (गवर्नमेंट) से अ-यंत्र रह कैसे सकती है—सत्ता को स्थूल तंत्र के रूप में देखने के हम इतने आदी हैं। लेकिन मानवांत कारण जैसी शक्ति का

बोध आज भी होने लगा है। विश्व-साक्षरता जसी चीज प्राधुनिक अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव क्षेत्र में सगत होने लगी है। राजनीतिक सत्ता के स्तर पर भी अनुभव किया जाने लगा है कि 'हम मन वाश्यस जसा कोई तत्व है अपनी जगह वह अमोघ है, और उमका उपेक्षा में रखकर अधिक् चला नहीं जा सकता है।

इस भावात्मक सत्य के अनुरूप कोई मत्वशील सम्भाव्यतमान विश्व-व्यवस्था के बीच उदय में आए, इसमें समय लग सकता है। लेकिन ज्ञान विज्ञान के अद्यतन उत्पन्न के प्रयोग में मानवान्तकरण की उस भावात्मक सत्ता से इन्कार किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्रनेता और राज्य सत्ता को घोषित और प्रमाणित करना पड़ता है कि युद्ध में भी वह न शसता से बचता है और अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओं का पालन करता है। राजनीतिक विवाद से वातावरण को अनिश्चित और भ्रान्त ही न कर दिया जाय तो सत्य और 'याय की वाणी में आज भी बल है। सत्य और 'याय की निष्ठा मानव हृदय में इतनी गहराई पर बद्धमूल है कि वह शक्ति यदि उदय में लाई जाय तो अमोघ हो सकती है। राष्ट्रीय स्वार्थों के विग्रह में राजनीतिक ने मानव दृष्टि को ऐसा चररा रगा है कि वह शक्ति जाग नहीं पाती है। सत्य-असत्य 'याय अ-याय को पपले में ढाल दिया जाता है और वह मानवता जो राजनीतिक स्वार्थों के विग्रह को द्वाया में शुद्ध धर्म और प्रेम में रही है, जो एक दूसरे के लिए जी रही और एक दूसरे को धाम रही है, बौद्धिकों के इस बुद्धि भेद के नीचे विभिन्न और

विभात बनी रह जाती है। वह मानवता सुनती है विज्ञप्तियों और बक्तव्यों को कि सब विवाद विग्रह उन्हीं के हित में किया जा रहा है यद्यपि यह उस विवाद-विग्रह को अपने हित से किसी तरह जोड़ नहीं पाती है। पर इस तरह मानवता को कब तक बिसराने रखा जा सकेगा? कब तक राष्ट्रियता के नाम पर उस सुलाए रखा जा सकेगा? राष्ट्र ऊपर से नहीं बने है उनको मलग करने वाली लकीरें धरती पर कटी और खुदी हुई नहीं हैं, सीमाएँ हमने मानी हैं और वे आपसी सुविधा-व्यवस्था के काम आने के लिए आती हैं। उन्हीं को जब मानवता की काट छाँट के काम में लाया जाता है तो अवश्य नहीं कोई बहुत बड़ी भूल है, या बहुत बड़ा पदबन्ध है।

इस विराट मनोदशन और मनोभाव की भूमिका पर राष्ट्रवाद और राष्ट्रराज्य को तनिक फसकर देखना होगा और अन्त में यदि आवश्यक हो तो उन्हें अपनी खरी कसौटी के अनुकूल बनाना होगा। व्यक्ति का वह विकास और विस्तार जो हमारे को दसता और बुचलता है इष्ट और सहाय नहीं माना जा रहा है। प्रकट होता जा रहा है कि व्यक्ति की ऐसी उन्नति वारतविक नहीं होती प्रतिक्रियात्मक होती है। समाज वह स्वम्य है जहा व्यक्ति का हित परस्पर टकराता नहीं है, विरोधात्मक नहीं है बल्कि वह परस्परायलम्बी और सहयोगात्मक है। यही धारणा राष्ट्रा के सम्बन्ध में भी हम विकसित करनी होगी और उनका अस्तित्व के स्थल उत्पन्न का भी उसी नतिक मान में देखना मानना-परसना होगा। दग कोई बहुत सम्पन्न हा मकता है ठाक जम कि अमुक व्यक्ति प्रतिपाय

धनाढ्य हो सकता है। लेकिन न व्यक्ति की वह धनाढ्यता, न देश की वसी मजदूरी अपने आप में स्पष्ट है। उस धनाढ्यता से समाज में विषमता बनती है और उस प्रकार की राष्ट्रीय समता से विश्व में प्रगति का कारण पैदा होता है।

किन्तु जिन जीवन दृष्टि और जीवन-पद्धति को व्यक्तिगत सम्बन्ध में हम हथ मान चुके हैं और कम-जिसका परिहार करते आ रहे हैं उसी को राष्ट्र-सदम में हमने विधेय और पाशेय बना रखा है। ऐसा मान कर चला जा रहा है कि जमे यह अपरिहाय हो और राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट-बोधक हो। जिन मर्हिसा और अपरिग्रह प्रादि मिद्वान्त को व्यक्ति-सम्बन्ध में हम उचित और उपयोगी ठहरा चुके हैं, मानों राष्ट्रा के सम्बन्ध में यह देगने और ममभने में बठिनाई नहीं है कि उसे अपने पटोसी के हित की कीमन पर फूलना नहीं चाहिए १ उमने और अपने बीच में कोई बाट की दीनार लड़ी की जानी चाहिए। सामान्य सामाजिक व्यवहार बलिक बनाता है कि उन दोनों के द्वारों पर एक-दूगरे के त्रिये स्वागत लिखा रहना चाहिए और एक-दूगरे की उपस्थिति उनके लिये हथ और भाइवाग का विषय होना चाहिए। राष्ट्रा के बारे में हमारा व्यवहार टीर इमने उल्टा हाता है। तीमाप्रा पर मन्द फौजें न हा ता मानो यह मुरक्षा-नीति की भ्रुटि है और सतरे का चुन वा या ताना है। तिराम तीम तीउन की भावदयवताए यद्यपि प्राताप सनाप और प्रायागमन का दूत और धनिकट ररती जा रही है

तो भी सीमा की यह सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र राज्यों के लिए मुख्य चिन्ता का विषय बना रहता है। सीमा के इबर-उधर सरकार बदल जाती है, निगरानी बदल जाती है। इस सरकार और सिक्के की बदली का भरपूर लाभ लेकर भ्रष्टाचार और अपराध बढ़ते हैं। अपराध एक सीमा के पार दहनीय नहीं रह जाता है और सिक्के की बदल-बदल में से तो सक्का-हजारों बिना कुछ धर्म-उद्यम के मालामाल बन जाते हैं। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सन्नद्धता के नाते ही परस्पर सुरक्षित बनी रहती है, नहीं तो एक दूसरे के लिए सतरा समझी जाती है। चीजा के दामों में इस सीमा के अन्तर से बेहद ऊच-नीच आ सकती और भ्रष्टाचार को जन्म दे सकती है। व्यवस्था का यह रूप कि जहा मानो हुई लकीर भर के भेद से कीमतों में एक और दस का अन्तर पड जाता है धान्ति और समाधान कमें ला सकता है। किन्तु राष्ट्र राज्य के पास मानो उपाय नहीं है राष्ट्र की एकता राज्य के अधीन बनती है और माना जाता है कि वह एकता अखंड और पुष्ट बनेगी तो उसके लिए राज्य का यत्र और तत्र को भी उत्तना ही दढ़ और चौकस बनना होगा। ऐसे उस तत्र का शरीर बहुत फूल और फल जाता है और उसकी खुराक और दूसरों जरूरतें भी बढ़ती चला जाती हैं। यह तत्र पदा नहीं करता केवल व्यवस्था करता है। इस तरह उत्पादन पर इस बढ़ते हुए तत्र के उपभाग का बोझ बढ़ता जाता है। उत्पादक दबता है और अनुत्पादक उस पर सवारी गाँठ कर ऊँचा उठता जाता है। ऐसी अवस्था में उस सारे उच्च वर्ग के लिए सरकार एक स्थापित स्वाध बन जाती है। इस स्वाध द्व त पर सखा राष्ट्रवाद मानो समाज को ऊँच नीच

के दो स्तरों में बाँट देता है। श्रमजीवियों का नीचे वर्ग, बुद्धि-जीवियों का उच्च वर्ग। श्रमजीवियों का स्वाथ कटा-कटा नहीं है वह मानव-जाति भर का एक और अखण्ड है। किन्तु बुद्धि-जीवियों के लिये अखण्ड मानवता स्वप्न रूप में कितनी भी प्रिय हो, यथाथ में उनके स्वाथ के साथ निभ नहीं पती है। इसलिये राष्ट्र का वह वाद जो पृथक्ता और प्रतिस्पर्धा में ही जिए, और फल फूले, उन्हें अपने अनुकूल पडता है और इसीलिए उमका चहवाए रखा जाता है।

क्या यह सम्भव है कि राष्ट्र की एक अविराधी धारणा हो और विकास इस रूप में हो कि पास-पड़ोस के राष्ट्रों में हितव्य ऋद्धि, कि वे परस्पर के लिए आश्वासन हो, आगवा न घने ?

अपने देश भारत को ही लीजिए। भारत एक अखण्ड कल्पना है और सहस्रो वर्षों पीछे तक गया उसका इतिहास है। उमका अस्तित्व सफल और गौरवपूर्ण रहा है और उसकी सभ्यता अविच्छिन्न और अजस्र रही है। किन्तु यह भारत क्या था ? प्रकृति की ओर से जो सीमा बन गई वह तो थी, लेकिन जहाँ वह सीमा प्रकृति ने ही बना कर नहीं दी थी वहाँ भारत की सीमाएँ बराबर इधर से उधर होती गईं। सभी अफगाणिस्तान पूरा इगम था आज लाहौर भी नहीं है। इन राजनीतिक परिवर्तनों और हलचलों के नीचे किन्तु कुछ था जो अविच्छिन्न बना रहा—अमल भारत रहा था। आपस के मिल-जुल रहने-गहने में अविच्छिन्न हुआ वह एक मानसिक, सांस्कृतिक

स्वरूप था जो सदियों के अन्तराल से अलग टिका चला आया। उसे किसी से ईर्ष्या न हो सकती थी न द्वेष और वस वह अपनी रचनात्मक निष्ठा में ही सम्पन्न निष्पन्न था। इस भारत को किसी से टक्कर नहीं हो सकती थी, न किसी पर उसका आक्रमण हो सकता था। उसकी स्वत्व रक्षा के लिए निषेध प्रतिषेध की आवश्यकता न थी। तत्व बाहर में आकर जो मिल सप जाते थे वे मूल को और पुष्ट ही करते थे उसकी अत प्रकृति को विविध और समृद्ध बना जाते थे। अन्तर्गत रहते, वे तत्व मानो अपने आप भर जाते थे। बुद्ध यहाँ हुए किन्तु बौद्ध परिव्राजकों को ऐसा नहीं मालूम हुआ कि स्वदेश से वे विन्येष्ट जा रहे हैं। विस्तार सहज भाव से होता गया किसी को कष्ट कर जसा हुआ ही नहीं। यह विस्तार था जिसमें दोनों और एक समान पुरुषार्थ का जागरण हुआ।

राष्ट्र इस प्रकार एक सम-सामाय जीवन को सांस्कृतिक इकाई का नाम हो सकता है। इकाई बहने का आशय किसी बंद घटक का नहीं है, सांस्कृतिक विन्येपण का अन्तिमार्थ ही यह है कि एकता है, किन्तु परस्परता उसे इष्ट है पक्वता उसे प्रिय नहीं है। यह हर दूसरे की और योगभाव से बढ़ने की वृत्ति स्वार्थिक अथवा राजनीतिक नहीं रहती, पारमार्थिक और नतिक हो जाती है। राजनीति समाप्त तो नहीं हो सकती उसके बीज मानव प्रकृति में पडे हैं। लेकिन राष्ट्र के नाम पर विराट सेना-शस्त्र-सन्नद्ध होकर चुनौती देते हुए दम्भ के साथ किसी जय-यात्रा पर बढ़ने की आवश्यकता उसके लिए नहीं रहती।

इतिहासकारों का शिकायत है कि भारत पहले राष्ट्र न था, राष्ट्र तो अब आकर वह अंग्रेजों के आगमन के बाद बना है। नायद शिकायत ठीक हो। राष्ट्र की वह धारणा जहाँ राजा एक होता है, जो हर राष्ट्र से पृथक और प्रतिस्पर्धी होता है भारत के पास नहीं। न उसकी धर्म धारणा ही ऐसी एकान्त थी। धर्म अस्तर अमुक व्यक्ति और सिद्धांत-वाद को लेकर गठित होता है उसी प्रकार राष्ट्र एक राजा और एक केन्द्रस्थ शासन-तंत्र को लेकर रूप पाता है। ये दोनों धारणाएँ भारतीय स्वत्व के लिए आवश्यक नहीं हुईं। धर्म भी यहाँ जीवन्त रहा, इसी तरह देश भी गरिमामय बना। किन्तु ये दोनों उसके लिए बंद और सिमटी धारणाएँ नहीं थी, उनकी निर्दिष्ट और बटी-जबड़ो सीमाएँ नहीं थी। फिर भी समय उस देश धर्म को धरति नहीं पहुँचा सका। हिन्दू-देश और हिन्दू धर्म बिना किसी प्रकार प्राचीर की सहायता के प्रवल और प्रकाण्ड बनते चले गए।

प्रतीत होता है कि राष्ट्र का व्यक्तित्व अगर राजनीतिवही रहा तो विग्रह और युद्ध से बचने का कोई उपाय नहीं होगा। कारण राजनीतिव रूप के लिए सत्ता के तंत्र को फलते ही जाना होगा। फिर उस सत्ता के लिए अज्ञान अस्तित्व ही सर्वप्रधान होने लग जाएगा। सत्ता और जनता का सम्बन्ध गणक और गणित का बनेगा और शासनाधिकार के आपसी मनमूढाव जनता की छाती पर दले और भुगताने जाते रहेंगे।

युद्ध की घोषणा अभी जनता में नहीं आ सकती। जनता

तो उसमें झोकी और फूकी ही जाती है। युद्ध की ज्वाला यदि फूटती है तो सत्ताओं के आपसी स्वार्थों की रगड़ में से ही फूटती है। जनता के स्वायत्त मनबन में आ ही नहीं सकते। फिर भी लाखों-करोड़ों की संख्या में विविध राष्ट्रवासी आपस में एक दूसरे को नेस्तनाबूद करने में लग जाते हैं, तो अवश्य कहीं कोई जादू या छल है और शायद वह छल राष्ट्रवाद के उस रूप में से फलता है जो स्वत्व को परत्व के विरोधी रूप में ही देखता और साधता है। पर बढ़ते हुए विज्ञान के प्रकाश में स्पष्ट है कि इस स्व-परत्व में परस्परत्व का विकास न हुआ तो महानाश का ताँडव ही होगा दूसरी सम्भावना नहीं रह जाएगी। सृजनशील परस्परत्व निजत्व के उस रूप में से विकसित हो सकता है जो अहम प्रमुख नहीं है, जो स्वाजन से उठकर स्वापण की भाषा में सोच सकता है जो दूसरे को अपने लिए ही नहीं समझता, अपने को भी दूसरे के लिए समझ सकता है।

राष्ट्र की और उसके उत्कथ की यह कल्पना हमारे मानस पर उतर सकी तो उसका अर्थ होगा कि हमारी राजनीति और अर्थनीति में एक साथ मौलिक परिवर्तन घटित हो। वह अतगत परिवर्तन राष्ट्रनीति को उत्तरोत्तर मानव-नीति के निकट लाकर दोनों को अभिन्न बना सकेगा। और यदि कोई एक भी राष्ट्र आज हिम्मत के साथ मानव-नीति के ध्रुव को अपनी आस्था और आचरण में उतार लेता है तो वह आज के विश्व सक्कट में एक नई किरण का आविर्भाव कर सकता है। इस आस्था का परिणाम स्पष्ट ही राज्य को दण्ड-शास्त्रादि स

अधिवाधिक स्थूल-तत्र बनाने की अपेक्षा उसे उत्तरोत्तर नोति-
सक्षम इसलिए सूक्ष्म-तत्र बनाने की दिशा में होगा। तब पैसे
की प्रभुता श्रम से स्वतंत्र और विमुख नहीं रह जाएगी, बल्कि
यह उत्तरोत्तर श्रमोन्मुख और अतन्त श्रमाधीन होगी।

पांच

एक दूसरे से पांच-सात मील दूर पर दसियों हजार आदमियों की दो पातें पड़ी है वे किच-ब-दूक से लस हैं और मुवायले को तयार है। वे फौजें एक दूसरे को देख नहीं पाती सिफ इन्तजार म रहती हैं। बस यही उनका काम है। पच्चीस पचास बप बाद वही मुठभेड की नौबत आ जाय तो बात दूमरी है बाकी बर्षों-बप बस उन्हें यही पज है कि वे सगीन की नौबतान एक-दूसरे के मुवायले तनात और होशियार हालत म रहे। इसी काम के लिए उनके खातिर सब सुभीते जुटाये जाते हैं और पूरा सम्मान दिया जाता है।

पच्चीस-पचास बप में जाकर दो एक दिन के काम के लिए उन्हें कौन इस तरह आमादा और सुख-सुभीत की सामग्री स

भरपूर रखता है ? किसकी ओर से वे हजारों लाखों आदमी इस निगरानी पर तनात रहते और दूसरे सब उपयोगी के कामों से बरी रहते हैं ? किसके हुक्म पर ? कौन उनके लिए सामग्री जुटाता और मान-सम्मान, इनाम इकराम का इन्तजाम करता है । जो यह सब करता है उसको राज्य कहते हैं ।

राज्य यह सब इन्तजाम रखने के लिए रसद और पसा कहा से जुटाता है ? जिनकी मेहनत में से यह सब लिया जाता है, उन्हें प्रजा कहते हैं ।

बरसा-बर्गम पालो और तयार रह जाकर जो आखिर चंद रोज के लिए मरने-मारने का काम करता है वह सैनिक है । जा वप के बाराहा महीने और महान के तीसरा दिन और दिन के दसिया घंटे बराबर मेहनत किये जाकर सैनिकों के लिए सामान जुटाये रखता है वह नागरिक कहलाते हैं ।

अद्यतन स्थिति यह है कि राज्य के सारे बजट का तिहाई या उससे अधिक भाग सुरक्षा के विभाग और सुरक्षा सैन्य के पक्ष में सुरक्षित रखा जाता है । यह हालत इसलिये है कि दुनिया भर का राज्या में बढी है और हर राज्य पूरी तौर पर गुद मुन्तार है । कुछ या कोई उसकी तयोजन का राबने वाला नहीं है और जो मूल्य सर्वोपरि है यह राज्य की स्वायत्तता और प्रभुमता है । हर राज्य एक राष्ट्र का घोटक है । हर राष्ट्र ऐसी गुदी है कि उसके ऊपर गुदा नहीं है । ऐसा ध्रुव स्वत्व है कि ऊपर नीचे या घम का कोई धनुष नहीं हो सकता है ।

क्य, यह भावश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित धर्म का एक बहुत बड़ा भाग धार्मिक को बचाने या बढ़ाने के व्यर्थ काम में ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच में इस भय और आतंक को कायम रखने की अनिर्वायता मानवता के लिए क्यों बनी ही चली जा रही है ? क्यों नहीं हो पाता है कि बीच में से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गरिमत की जगह उनमें पारस्पर्य हो सशय की जगह सहानुभूति हो, धर्मका की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यों न उनमें अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते हैं कि यह हाना चाहिये । स्पष्ट तर्क से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए । फिर भी नहीं हो पाता है । कोई भय से मुक्त नहीं है और भय से बचाव के लिए भय के ही शस्त्रास्त्र बनाने बढ़ाने की सय विवश हैं तो क्यों ?

कारण वही है राष्ट्र और राज्यकी बढ और विरोधी घाटा ।

भारत के हाल के इतिहास का घटना लें । भारत कोस्वराज्य लना था । यहाँ की राष्ट्रीय कांग्रेस की गांधी ने कहा कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य उन्हें मजूर न होगा । राष्ट्रीय कांग्रेस को यह बात मान्य न हुई । उसे हर कीमत पर स्वराज्य बबूल था । वह तो गांधी के सिवा कोई नतृत्व उपलब्ध न था, इससे गांधी की बात तो नहीं रखी फिर भी कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व को अवश्य माने रखा । गांधी ने समझाया कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा । सिर्फ जो राजनीतिक हा वह तो पूरा और असल हाता नहा आगे बढ़कर स्वराज

को समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उमकी मायता रही हो। जो हो, स्वराज आने पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने का स्वतंत्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो गई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल आर्थिक लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वायत्त को मानवीय परमाय से हटे एक स्वतंत्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुष्टता घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पत्रों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण का धम भूल जाने पर उसने लिए सिर्फ आफेंस डिफेंस का ही एक धम शेष रह जाता है।

यह एक ममूची धारणा है। राज्य का जब हम उम रूप में—बलिष्ठ सन्नद्ध सघटना के रूप में—लेते और चाहते हैं तो समाज और अर्थ रचना का भी तदनुकूल आयोजन सजाजन हम सूझता है। एक व्यवस्था सही होती है जिसे नगनल इकोनमी माना जाता है। उसमें समाज की विविध प्रवृत्तियाँ का ऐसा नियमन होता है कि जिससे राष्ट्र राज्य का तंत्र सम्पन्न एवं बलशाली हो। तब धादमी का जन-जन के रूप में

क्या यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित श्रम का एक बहुत बड़ा भाग आतक को बचाने या बढ़ाने के लिये काम में ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच में इस भय और आतक को कायम रखने की अनिर्वायिता मानवता के लिए क्यों बनी ही चली जा रही है ? क्यों नहीं हो पाता है कि बीच में से छतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गरियत की जगह उनमें पारस्पर्य हो सशम की जगह सहानुभूति हो, धमकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यों न उनमें अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते हैं कि यह हाना चाहिये । स्पष्ट तक से सिद्ध है कि यह हो सकना चाहिए । फिर भी नहीं हो पाता है । कोई भय से मुक्त नहीं है और भय से बचाव के लिए भय के ही सास्त्रास्त्र बनाने बढ़ाने को सब विवश हैं तो क्या ?

कारण वही है राष्ट्र और राज्यकी वद और विरोधी घाटा ।

भारत के हाल के इतिहास की घटना लें । भारत को स्वराज्य लाना था । यहाँ की राष्ट्रीय कांग्रेस को गाँधी ने कहा कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य उन्हें मजूर न होगा । राष्ट्रीय कांग्रेस का यह बात मान्य न हुई । उसे हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था । वह तो गाँधी के सिवा कोई नतृत्व उपलब्ध न था । इससे गाँधी की बात तो नहीं रखी फिर भी कांग्रेस ने गाँधी के नतृत्व को अवश्य माने रखा । गाँधी ने समझाया कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा । सिर्फ जो राजनीतिक है वह तो पूरा और असल होता नहीं आगे बढ़कर स्वराज

का समाजनीतिक और भयनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उमकी मान्यता रही हो। जो हो, स्वराज मान पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने को स्वतंत्र हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल आर्थिक लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वायत्त को मानवीय परमाय से हटे एक स्वतंत्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पत्रों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समपण का घम भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ कांग्रेस डिपेंडेंस का ही एक धम शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य का जब हम उम रूप में—बलिष्ठ समृद्ध संघटना के रूप में—देखते और चाहते हैं तो समाज और भय रचना का भी तदनुकूल आयोजन नयाज हम श्रुता है। एक व्यवस्था खड़ी होती है जिस 'नयाज इकोनमी' माना जाता है। उम समाज की विविध प्रवृत्तियों का ऐसा नियमन होता है कि जिनमें राष्ट्र राज्य का तंत्र सम्पन्न एवं बसगाली हो। तब धादमी का जन-जन के रूप में

क्य, यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के सम्मिलित धर्म का एक बहुत बड़ा भाग आतंक का बचाने या बढ़ाने का ध्येय काम में ही स्वाहा हो जाता है ? अपने बीच में इस भय और आतंक को कायम रखने की अनिर्वायिता मानवता के लिए क्यों बनी ही खली जा रहा है ? क्या नहीं हो पाता है कि बीच में से खतरा हटे और विश्वास उत्पन्न हो ? गरियत की जगह उनमें पारस्पर्य हो सशय की जगह सहानुभूति हो, धर्मकी की जगह प्रीति और प्रहार की जगह सद्भाव हो ? क्यों न उनमें अभियोग की जगह सहयोग हो ?

सब मानते हैं कि यह टाना चाहिये । स्पष्ट तर्क से सिद्ध है कि यह हो सकता चाहिए । फिर भी नहीं हो पाता है । कोई भय से मुक्त नहीं है और भय से बचाव के लिए भय में ही गस्त्रास्त्र बनाने बढ़ाने को सब विवश हैं, तो क्यों ?

कारण वही है राष्ट्र और राज्यकी बढ और विरोधी घाटा ।

भारत के हाल के इतिहास की घटना लें । भारत का स्वराज्य लाना था । यहाँ की राष्ट्रीय कांग्रेस को गाँधी ने कहा कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य उन्हें मज़ूर न होगा । राष्ट्रीय कांग्रेस को यह बात मान्य न हुई । उस हर कीमत पर स्वराज्य कबूल था । वह तो गाँधी के सिवा कोई नवृत्त उपलब्ध न था, इसलिये गाँधी की बात तो नहीं रखी फिर भी कांग्रेस ने गाँधी के नवृत्त को अवश्य माने रखा । गाँधी ने समझाया कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य पूरा स्वराज्य ही न होगा । सिर्फ जो राजनीतिक हो वह तो पूरा और असल होता नहीं, आगे बढ़कर स्वराज

का समाजनीतिक और अर्थनीतिक भी होना चाहिए। उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। पर कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीय थी, उसे राजनीतिक ही बस था। शेष अनायास और अपने आप होगा शायद ऐसी उमकी मायता रही हो। जो हो, स्वराज आन पर राजनीति में से नीति अलग हुई और राज अलग रह गया। राजकीय मानो नीति शून्य होने की स्थिति हो गया और उधर नीति इतनी उपदेशकीय बन गई कि राजकीय सामर्थ्य से शून्य हो आई।

राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम केवल आर्थिक लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वायत्तता का मानवीय परमाय से हटे एक स्वतंत्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुघटना घटित होती है। राज्य स्वयं प्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र का पन्ना के लिए बच रहती है। नीति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण का धम भूल जाने पर उसका लिए सिर्फ आर्पेन्स डिपेंन्स का ही एक धम शेष रह जाता है।

यह एक समूची धारणा है। राज्य का जब हम उस रूप में—बलिष्ठ सन्नद्ध सघटना के रूप में—देखते और चाहते हैं तो समाज और अर्थ रचना का भी तदनुगुण आयोजन सजावन हम शून्यता है। एक व्यवस्था सदा हानी है जिस नगनल इकोनमी माना जाता है। उमम समाज की विविध प्रवृत्तियाँ का ऐसा नियमन होता है कि जिनसे राष्ट्र राज्य का तंत्र सम्पन्न एवं बलवान्ता हो। तब आदमी को जन-जन के रूप में

नहीं जनता के रूप में देखा जाता है और उसका व्यक्तित्व आनुपंगिक एवं गौण पढ़ जाता है प्रधान गुट और समूह होने लगते हैं ।

मानव जाति का यदि कभी एक होना है--और ज्ञान विज्ञान की प्रगति को देखते हुए यह आसन्न भविष्य में ही अनिवार्य दीक्ष्यता है--तो उसके आदि और ध्रुव घटक के रूप में मानव व्यक्ति का स्वीकार करना होगा, देश और राष्ट्र आदि धारणाओं को मानव-व्यक्ति-निरपेक्ष बनने से बचाना होगा । सामूहिक सजाएँ जब स्वयं सिद्ध मूल्य प्राप्त करने लग जाती हैं, तब मानव-नीति का सद्बन्ध उनसे छूट जाता है । तब मानव समुदाय के लिए व्यक्ति ही चलता है समुदाय व्यक्ति के लिए नहीं होता है ।

मूलतः हमारा यह बौद्धिक युग इसी भूल में चल रहा है । मानसिक सजाओं धारणाओं और आदर्शों सिद्धांतों का हमने एकांत (ऐक्सोल्स्यूट) भाव से मान लिया है । लक्ष्य को फिर उन्हीं में प्रतिष्ठित करके मानव-व्यक्ति का उपयोग और उत्सर्ग सेना आरम्भ कर दिया है । इस तरह जातीय और राष्ट्रीय मानवीय से उलटा पड़ता चला गया है और अन्त में दीख पड़ रहा है कि राष्ट्र जितने सम्पन्न और समृद्ध होते हैं मानव-संकट वहाँ उतना ही उत्कट होता जाता है ।

इसका उपाय यही है कि हमारी सत्थाओं और सघटनाओं की रचना इस प्रकार हो कि मूल मानव व्यक्ति का उसमें

स्वीकार और समादर समाया हो केवल मात्र उसका उपयोग और उपयोजन इष्ट न हो ।

वैज्ञानिक दृष्टि के अधीन मानव-जीवन और मानव-समाज को व्यवस्थित संयोजित करने के प्रयत्न में हमने मानव घटक के साथ उसी प्रकार व्यवहार करना शुरू कर दिया है जैसे मकान बनाते वक़्त ईंट का उपयोग किया जाता है । ईंट को भासानी से हम छील-छालकर मनचाहा आकार दे देते हैं । पर मनुष्य मनस्वी है और किसी छीलने वाले के हाथ स्वयं को देने का भासानी से इसलिए तयार नहीं है कि स्वयं यह देगता है कि किसी छीलने का दावा करने वाले से भिन्न या अलग वह नहीं है । बढ़ते हुए ज्ञान ने उसकी इस कदर भाँखें खोल दी हैं कि जब वह अपने को इन्सान मानता है तो बड़े-से-बड़े राजा और नेता को भी वह अपनी तरह का इन्सान ही मानता है । साम्राज्य को साम्राज्य और राज्य को विभिन्न राजकीय, इन दो विभिन्न कोटि की परिस्थितियों में रख कर अब यह नहीं माना जा सकता कि एक अपने का हीन माने रहगा और दूसरा स्वभावतः उच्च । अन्तर भिन्न रहे हैं और कृत्रिमताएँ दूट रही हैं । इसलिए एक इन्सान पतार्थन और दूसरा उमड़े हाथ में गिरफ़ारण करने को रह जाय, यह प्राये सम्भव नहीं रहन वाला है । अर्थात् केवल विज्ञान-नम्नत विनियोजन-अपयोजन सामाजिक प्रवृत्तियों में काम नहीं देगा । मनुष्य निरचेतन पक्ष नहीं है और दर्शा जाता है कि जब वह स्वतः प्ररणा से कुछ करता है तो कितना ही कर जाता है, बंगार में करता पढता है तो उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं कर पाता है ।

इन अनुभवा से हम ग्रान्तरिक क्षेत्रों में विवश हुए हैं कि उत्पादन सबधी योजनाओं में श्रमिकों के हित का और सुख का भी पूरा ध्यान रखें। ऐसा कुछ बराबर करते रहे जिससे श्रम जीवी में प्रेरणा बनी रहे। और काम को वह अपना काम समझे। ऐसा जब नहीं होता है तो उत्पादन के परिमाण में तत्काल क्षति दाखने लगती है। अर्थात् मानसिकता से अलग व्यक्ति मनुष्य को लेना अथवा उसकी समस्याओं को केवल आर्थिक विज्ञान की दृष्टि से सुलझाना सम्भव न हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति में निजत्व है और जब समूह में उसके निजत्व को लीन मान लेते हैं तो बड़ी भूल कर जाया करते हैं। लीनता स्वच्छिन्न समपण में से तो प्राप्त होता है अथवा प्राप्त नहीं होती है। राजनीति और राष्ट्रनीति में अरसर मानवीय व्यक्तित्वा का उपयोग तो हुआ करता है समपण अधिकांश वहाँ नहीं होता। परिणामतः राजनीति सदा अस्थिर रहती है और उस क्षेत्र में हमेशा हलचल मची दिखाई देती है।

व्यक्ति की निजता जबकि एक अपरिहाय तथ्य है तब उसकी प्रकृति को भी समझने की आवश्यकता है। केवल निजता से तो निश्चय ही समाज नहीं बनता है। काम भी ऐसे कोई नहीं बन सकता है। हर प्रकृति सहयोग मांगती है। परस्परता के बिना जीवन का कल्पना ही नहीं हो सकती। मनुष्य पशु की तरह से स्वाधीन नहीं जी सकता है। प्रकृति की ओर से ही वह ऐसा जनमा है कि उसे मिल-जुलकर जीना होता है। कद-मूल या कच्चे अन्न-फल मांस से उसका भोजन नहीं हो जाता। न उसको ऐसी छाल खात मिली है कि वस्तु के बिना चल जाय। जीने

मात्र के लिए उसे उद्यम करना पड़ना है और अपने म से निकलकर परस्परता को जुटाना पड़ना है। यह पारस्पर्य मनुष्य का लक्षण है यही उसकी क्षमता है।

क्या यह सम्भव नहीं है कि अनिवाय यह उसका उद्यम इस तरह व्यवस्थित हो कि उसमें पड़ोसियों के हित आपस में बिछुड़े नहीं बल्कि जुड़ें। पशु निकला और जिस अन्य की देखा देमते ही शिकार बना डाला। क्या मनुष्य के लिए भी यही विधि जीने की मानी जायगी? नहीं, मनुष्य का अपने जीवन के लिए समाज का विकास करना पड़ा है और अपनी निजता को परस्परता के अनुबन्धन ढालना पड़ा है। क्या भारत में ही ऐसा कुछ नहीं हो सकता है कि उसके रहन-सहन की प्राथमिक आवश्यकताएँ आपस के सहयोग द्वारा इस तरह पूरी हो कि उनमें हित विरोध न पड़ने पाये, बल्कि हितकय बढ़ता जाए?

सक्षेप में क्या ऐसी कोई 'नेशनल इकोनॉमी' नहीं हो सकती है जो मूलतः 'ह्यूमन इकोनॉमी' भी हो? यदि वह बुनियाद में ह्यूमन हाती है तो यह सम्भावना कि राष्ट्रीय स्तर पर वह धमानवीय हो उठे, अपने आप बट जाती है। सहयोगात्मक की जगह जब हम प्रतिस्पर्धात्मक, दूसरे शब्दों में मनुष्य प्रधान से वस्तु-प्रधान, इकोनॉमी का अपनात है तभी घाग जागर भगड़े-बसोड़े बड़े बनत हैं, और राष्ट्र राज्या व तल पर भापण युद्ध अनिवाय हो जाते हैं।

यहां वह धोज है जिसमें से युद्ध का विपन्न फलित हाना

है। यह स्पर्वाजन्य स्वायज्य उद्यम-उद्योग की प्रथा है जिसमें से प्रतिक्षण आपसी वर-विरोध और वमनस्य के शीटाणु छष्ट हाते हैं वे ही बड़े-बड़े समुदाय-समूहों में सघटित होकर विग्रहों और युद्धों को जन्म दिया करते हैं। अपनी नित्य प्रति की जीवन-व्यवस्था में से हम कण-कण उस विष को उपजाते हैं जिसके मधोभूत उत्स्फाट में अन्त में स्वयं हम ही चकित बने रह जाते हैं।

गांधी अभी भारत में हो गये हैं। भारत देश उन्हें राष्ट्रपिता मानता है और साथ महात्मा भी कहता है। उनके नेतृत्व में भारत को स्वाधीन राष्ट्र का रूप मिला, पर स्वाधीनता प्राप्त होने पर वह किसी राष्ट्र पद पर दिखाई नहीं दिये। जिस पद्धति से उन्होंने स्वराज्य दिलाया, उसमें तलवार के लिये जगह नहीं थी उसकी जगह बल्कि चर्खा था। उनका बल चर्खों पर इतना था कि 'नायद प्राथना पर ही उतना रहा हो। उन्होंने चरखे को राष्ट्रध्वज के केन्द्र में रखने को कहा।

पराधीन भारत में सात समुन्दर पार लका दायर से बपटा आता था। राष्ट्र द्वारा सिर्फ उसको रोकने की ही बात न थी। उमके लिए तो बपड़े की मिलें खड़ी की जा सकती थी। बाद में वे मिलें हुईं भी और अब हिन्दुस्तान बपड़ा मगाता लगभग नहीं है। ज्यादातर बाहर भेजता ही है। अर्थात् चर्खा केवल आर्थिक संयोजन का ही प्रतीक नहीं था बल्कि उसके पीछे आर्थिक से बड़ी एक पारमार्थिक दृष्टि भी थी। पारमार्थिक दृष्टि यह कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति

धोर पूर्ति इस प्रकार हो कि वितरण की पूजोवादी समस्या न बने और मानवी सम्यग् मूलत हितव्य के आधार पर गड़े हा, उनमें हित विग्रह और श्रेणी विग्रह न उपजे। अथ रचना का क्रम राष्ट्रीय से अधिक मानवीय हो। इस आधार पर खड़ा होने वाला राष्ट्र और फिर उस राष्ट्र में निष्पन्न होने वाला राजतन्त्र उत्तरोत्तर ऐसा हो सकेगा जिसका उत्कृष्ट मानवता से अविरोधी हो और जो इसलिए हिमा के उपकरणों की निभरता से मुक्त हो सक।

आज के दिन गांधी को याद कर्ना उपयोगी होगा। गांधी की सबसे बड़ी विशेषता इस सदन में यह है कि वह पूणत राष्ट्रीय और राजकीय रहे, साथ ही उसी पूणता के साथ वह मानवीय और जागतिक भी रह सके। राष्ट्रीय उनके साथ मानवीय का विरोध धारण नहीं कर सका और राष्ट्रपिता और एकच्छत्र राष्ट्रनेता होने के नाते उन्हें जगत् भर के लिए महात्मा बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कहीं आदम द्विविधा की समस्या उन्हें नहीं हुई और वे सब चुनौतियां उन्होंने सीं, उनका उत्तर दिया कि जिनका उपाय केवल हिमा में देना जाना है।

राष्ट्र मना को अब सोवरेन माना तो जाता है पर हम जानते हैं कि आज की विश्व स्थिति में कोई देश एक अकेला होकर नहीं जी रहा है, न जी सकता है। फिर भी मिद्वान्त में इस सोवरेटी की रक्षा करने और उसका घोष करने में विश्व-सुवहार में गाँठ पड़ जाती हैं। जसा चाहिए वसा

मानव-जीवन प्रवाही नहीं रहता और जगह-जगह उस प्रवाह में भ्रवराव पदा होते जाने के कारण सदा विस्फोट का सामान बना रहता है।

राष्ट्र सत्ता की इस सोबरेटी के आधार पर बाहर अन्त राष्ट्रीयता में जो प्रथिया पडती हैं उसके प्रतिरिक्त स्वयं राष्ट्र के अन्तगत भी कम पच पदा नहीं होते हैं। एक राष्ट्र की सत्ता जब राज्य में अखण्ड बनती है तो देश के दूसरे अययव और सस्थान अपने आपमें सत्ताहीन होकर आधीन और निभर बन जाते हैं। मानव-व्यक्ति आत्मवान और स्वत्वशील नहीं रहता है, बल्कि आनुपगिक कन्टिजेंट हो जाता है। इस पद्धति से राष्ट्र राज्य-सत्ता की धारणा में नीचे जा समाज फलित होता है वह अपने में विश्वम्त और स्वस्थ नहीं हो पाता और मानो उस समाज में सब सदस्य मानी गयी राज्य-सत्ता में स्थान पाने के आग्रही बनने लगते हैं। तब सवय पदा होता है लोग सृजनशील वक्तव्य से विमुख हो जाते हैं और सघय प्रिय राजनीति को अपना व्यवसाय बना उठते हैं। व्यक्तिस्व की गरिमा ह्रस्व पडती है और

उसकी महिमा बढ़ जाती है *

समाज में आपसी सदभाव

स सृष्ट हुई

रास्थाए राज्य

है और र

याम चुनाव

धामे पीका

लगता है। सदा

रट जाते हैं

सगत्विक व ०

है। यह

कवल इस का

म

उसके प्रतीक

र मा

मत्ता म से उठा दिया जाता है। परिणाम यह कि मानव जानि मानव-नीति और स्वयं मानव-ध्व्यक्ति राष्ट्र और राज्य और उनकी नीति के समक्ष प्रगत के समान बन जाते हैं और अधिकतर इन दोनों म विरोध ही ठन जाता है। इसीलिये अधिकतर महान् मानवप्रमियो और आदर्शवादिया को शासन क हाथा गहीद बनना पडता है।

गहादन एव मूल्य है। सत्य का उद्घाटन उसी पद्धति से हुमा करता है। आज जिसको गहीद बनाया जाता है, कल उमी को पूजा जाता है। गहीद अपनी मृत्यु से लोगों के अन्त करण म एक आशुति छोड जाता है जो धार धीरे काम करती है और अन्त में अणाय क शासन को उलट डालती है। क्रांतिया के इतिहास से स्पष्ट है कि शासन-सत्ता अपने आप में मूल्य नहीं है। वल्कि मूल्य की दिशा म उसम परिवर्तन आया करता है। स्वयं मूल्यता, अर्थात् सोवरेटी, की स्टेट से तद्गत देगन मे से इसीलिये बनायास मानव-मूयो की हानि होने लगती है।

सर्वोपरि मूल्य क्या है? क्या है जो 'सोवरेन' है और जिसमे समस्त व्यवहार नियत होना चाहिए? यही ईश्वर की वान करना श्रुत है। वह तो अगम ह और उस सम्बन्ध म विवाद का अन्त भी नहीं ह। किन्तु मूल्य की पहचान सब मे अन्तमूलत ह। उसकी आर्या में भेद पड़ सकता है, लेकिन अनुभूति मयमे समान ह। जहा यह अनुभूति उपलब्ध और सुलभ होती है उन अन्त करण मे ही हम मूल्य का निर्णय कर सकते हैं।

राज्य या राष्ट्र जैसी सणाएतत्र या ममवाय की वापक हैं।

किसी अन्तःकरण का बोध उनसे नहीं होता है। आत्मवान् मनुष्य है वह स्वचालित है। उमी की सृजनशीलता म स जो धर्म और क्रम निकलता है उनमें म मस्मृति और सम्यता की सृष्टि होती है।

इसलिये राज्य का विचार करत समय मानव व्यक्ति की इस अक्षमता और अमगता (इवायालेविलिटी) क मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें व्यक्ति क भी र का स्नेह और सब्ब बीच का पारस्पर्य छिन्न भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और समुक्त होता चला जाय।

ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड म है। सत्य दो नहीं हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नहीं है। राज्य की नीति के लिए अत मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति क बार म अब बहुत विभ्रम नहीं है। वह मनुष्य मूल स नीतिवान प्राणी ह पाप म जात हुए भी वह अन्तःकरण की व्यथा से मुक्त नहीं हो पाता है। अनिवायत उसका जीवन मान नतिव होता ह। इस नतिक्ता को आचारशिला मानकर यदि हम अपनी अथ रचना समाज रचना राष्ट्र और राज्य रचना क सम्यच्च म निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधा व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकता। और वही होगा जो गान विज्ञान के आज के विकास विद् तु तव आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और समाल मकेगा। सावभौम 'सोवरेटी' का भाव तव राज्य क पास

न हायर स्वयं नीते क पाम होगा और जिस शक्ति से काम
दृष्टा करेगा वह विग्रह-सघप जनित न होगा वल्कि वह हर
म्वर पर स्निग्ध परस्परता का हागा । उस शक्ति का सत्व
भौतिक से अधि न निक हागा ।



किसी अन्तःकरण का बोध उनसे नहीं होता है। आत्मवान मनुष्य है वह स्वचालित है। उसी की सृजनशीलता में स जो श्रम और रुम निकलता है उनमें से मस्तिष्क और सम्भवा की सृष्टि होती है।

इसलिए राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इस अज्ञता और अभागता (इवायालर्जिजिटी) के मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें व्यक्ति के भी र का स्नेह और मवक बीच का पारस्पर्य छिन्न भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और समुक्त होता चला जाय।

ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। सत्य दो नहीं हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नहीं हैं। राज्य की नीति के लिए अत मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति के बारे में अथ बहुत विभ्रम नहीं है। वह मनुष्य मूल से नीतियान प्राणी है पाप में जाते हुए भी वह अतःकरण की व्यथा से मुक्त नहीं हो पाता है। अनिवायत उसका जीवन मान नतिक होता है। इस नतिकता को आधारशिला मानकर यदि हम अपनी अथ रचना समाज रचना, राष्ट्र और राज्य रचना के सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोध व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो तान विमान के आज के विद्याम विदु तप आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और सभाल सकेगा। माकनीम 'माकरे-टी' का भाव तब राज्य के पास

न हानर स्वय नीति के पाम होगा और जिस शक्ति से काम
हुमा करेगा वह विग्रह-सघप जनित न होगी बल्कि वह हर
स्तर पर स्निग्ध परम्परता की होगी। उम शक्ति का मत्व
भौतिक से अधिक नतिक हागा।



किसी अन्तःकरण का बाध उनसे नहीं होता है। आत्मवान मनुष्य है वह स्वचालित है। उमी की सृजनशीलता में सना श्रम और क्रम निकलता है उनमें से सस्कृति और सम्यता की सृष्टि होती है।

इसलिए राज्य का विचार करते समय मानव व्यक्ति की इन अल्पवृद्धता और अमंगलता (इच्छायालवृद्धि) के मूल्य का ध्यान रखना होगा। कुछ ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें व्यक्ति के भीरु का स्नेह और सबके बीच का पारस्परिक द्युन्न भिन्न न हो, बल्कि पुष्ट और समुक्त होता चला जाय।

अज्ञान में है वही पिण्ड में है। सत्य दो नहीं हैं। राष्ट्र और मानव भी दो नहीं हैं। राज्य की नीति के लिए अतः मनुष्य को बुनियाद बनाया जा सकता है। मानवनीति के बारे में अब बहुत विभ्रम नहीं है। वह मनुष्य मूल से नीतिवान प्राणी है पाप में जाते हुए भी वह अतःकरण की व्यथा से मुक्त नहीं हो पाता है। अनिर्वायत उसका जीवन मानव नृतिव्य होता है। इस नृतिव्यता को आधारशिला मानकर यदि हम अपनी अर्थ रचना समाज रचना राष्ट्र और राज्य रचना के सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त करेंगे तो एक अविरोधाध्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रकट हो सकेगा। और वही होगा जो ज्ञान विज्ञान के आज के विकास विदुषु तक आने पर मानव-जाति की भवितव्यता को सहार और समालम्बेगा। सावभौम 'सावर'टी का भाव तब राज्य के पास

न हाजर म्बय नीते क पाम होगा और जिस शक्ति मे काम
हुधा करेगा वह विग्रह-सघष जनित न होगी बल्कि वह हर
मनर पर स्निग्ध परस्परता की होगी । उस शक्ति का मत्व
भक्ति स अधिक नतिक हागा ।

४४४

न हाजर म्यव नीति के पाम हागा श्रीर जिस शयिन स काम
दुघा करेगा वह विग्रह सघप जनित न हागी बल्वि वह हर
स्तर पर स्निग्ध परस्परता की होगी । उम गविता का पत्व
भौतिक म अधिा गतिक हागा ।

